सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म
का प्रतिपादक मासिक

वर्ष : 52; अंक : 10
जनवरी 2020

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

प्रकाशन तिथि : 01.01.2020 मूल्य — एक प्रति : 20/—, त्रिवार्षिक : 360/—

अमृतकण

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दंडेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख:।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/3)

अर्थात् तुम्ही स्त्री हो, पुरुष भी तुम्हीं हो, तुम कुमार, तुम कुमारी भी हो और तुम्हीं दण्ड का सहारा लिये हुए वृद्ध हो, विश्व में सर्वत्र तुम्हीं हो।

◆ ◆ ◆

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:।।

(गीता 6/29)

अर्थात् सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।

◆ ◆ ◆

यद्यत् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।।

(गीता 10/41)

मनुष्यों में जहाँ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है, समझो वहाँ मैं वर्तमान हूँ, मुझसे ही इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है।

◆ ◆ ◆

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्ति: पृष्ट गिरेवि। उर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वस्मृतमस्मि। द्रविणों सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षित:।

(तै. उपनिषद 1/10)

मैं (संसार रूप) वृक्ष को हिलाने वाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वत के सदृश है। मैं वह हूँ जिसके ज्ञान का पवित्र (प्रकाश) ऊँचा उदय हुआ है, मानो सूर्य में है। मैं सुमेधा हूँ, अमृत हूँ, क्षीण न होने वाला।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :— शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली "सिद्धयोग" नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 52 जनवरी 2020 अंक : 10

नि षु सीद गणपते गणेषु
त्वाम् आहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किं
चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च।।

भावार्थ

गणपति ! आप अपने भक्तजनों के मध्य प्रतिष्ठित हों। त्रिकालदर्शी ऋषि रूप कवियों में श्रेष्ठ! आप सत्कर्मों पूरक हैं। आपकी आराधना के बिना दूर या समीप में स्थित के अधिपति ! आप मेरी इस श्रद्धायुक्त पूजा-अर्चना को, अभीष्ट फल को देने वाले यज्ञ के रूप में सम्पन्न होने हेतु वर प्रदान करें।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2	सम्पादकीय– डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी	8
3	नव वर्ष मंगलमय हो !	12
4	पवित्र-कर्म और उनका प्रतिफल– श्री कर्मनारायण कपूर	13
5	मानवता-वाद – श्री वेदप्रकाश अग्रवाल	20
6	2020– नववर्ष के अभिनन्दन में – त्रिभाषा	25
7	आयुर्वेदीय पंच कर्म: यौगिक षट् कर्म– ब्र. श्री दाशलाल	27
8	सांसारिक दु:खों की निवृत्ति के उपाय– डॉ. राजकुमारी त्रिखा	36
9	जप विज्ञान– अनिल दुबे	39

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्म और उनका भुगतान

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

पूज्य श्री गुरुदेवजी का यह लेख भी पूर्व लेखों के समान अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक उपयोगी और पठनीय है। *—सम्पादक*

पिछले लेखों में हम इस शास्त्रीय सिद्धान्त को भली प्रकार समझा चुके हैं कि विच्छिन्न और उदार संस्कारों की जननी अविद्या होती है और ये सभी संस्कार अपने शरीर में स्थूल सूक्ष्म और कारण भेद से किस प्रकार से और कैसे—कैसे मनुष्य को भोगने पड़ते हैं। एक सिद्धान्त की बात और है जिसे भी समझा देना बहुत ही आवश्यक है। वह यह कि वृत्तिओं के पाँच भेद भगवान पतंजलि देव ने योग—दर्शन में कहे हैं। उनका सूत्र इस प्रकार है—

वृत्तय: पंचतय्य: क्लिष्टाऽक्लिष्टा।

योग दर्शन 1/5

अर्थात्—वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं और उनके क्लिष्टा—अक्लिष्टा भेद से दो प्रकार होते हैं। इसकी व्याख्या व्यास भाष्य में करते हुए लिखा गया है।

क्लेशहेतुका: कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूता: क्लिष्टा:, ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टा:। क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टा:, क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्य—क्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति।

तथाजातीयका: संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति; एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमा—वर्त्तते।

अर्थात्—क्लेशों के कारण और कर्माशय क्षेत्र की वृत्तियाँ क्लिष्टा कहलाती हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान को प्रगट करने वाली गुणाधिकार विरोधिनी वृत्तियाँ अक्लिष्टा कहलाती हैं।

किन्तु नियम यह रहता है कि जिस समय मनुष्य के प्रारब्ध में क्लिष्टा अर्थात् कठोर वृत्तियों का भुगतान आता है उस समय ख्याति विषया अर्थात् ज्ञान प्रधान गुणाधिकार विरोधिनी अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी बीच में आ जाया करती हैं। इसी प्रकार से जब मनुष्य के शरीर में गुणाधिकार विरोधिनी ज्ञान प्रकाशिका वृत्तियों का प्रवाह जारी होता है तब उन ही के बीच में कर्माशय के चयन में क्षेत्री मूला एवं पंच क्लेशों की जननी क्लिष्टा वृत्तियाँ आ जाया करती हैं। इन्हीं वृत्तियों से नये नये संस्कार बनते रहते हैं। इस प्रकार से क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों का अहर्निश उत्थान-पतन होता रहता है: यही कारण है कि कभी–कभी बड़े–बड़े ऊँचे पुण्यात्मा भी परम पुण्य के कार्य करते हुए भी विचलित हो जाते हैं। काम क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर कुकर्म कर बैठते हैं। जैसे कोई व्यक्ति बड़े–बड़े यज्ञ करा रहा है, दान कर रहा है ऐसे पुण्य कर्म करते हुए भी उसकी वृत्तियाँ प्राणीमात्र के लिए शुभ ही शुभ होनी चाहिए, किन्तु इन्हीं पुण्य कर्मों के करते हुए भी उसके मन में किसी की कोई गलत हरकत देखकर क्रोध बढ़ गया और क्रोध वश हो करके उसने उसको मरवा दिया या अन्य कोई कठोर दण्ड दिला दिया, तो फिर कालान्तर में शुभ कर्मों के दूसरे फलस्वरूप जब भी उसका इस जन्म के किए हुए पुण्यों का भोग काल आयेगा जिसके फलस्वरूप उसका जन्म किसी उत्तम परिवार में तो हो जायेगा किन्तु पुण्य करते हुए जो पापकर्म उससे बन गया था उसका भोग भी उसके साथ में ही भुगतान होगा। जैसे ऊँचे धनवान पुण्यशील घराने में पैदा होने पर भी एवं विवाह शादी धन सम्पत्ति तथा इसी प्रकार के अन्य सभी सुख उपलब्ध होने पर भी कोई कठिन बीमारी लग सकती है या कोई मानस रोग लग जाये जिससे हर समय मन में कोई दुःख या भ्रान्ति रहने लगी। इसी प्रकार किसी दैविक प्रकोप का शिकार भी हो सकता है ऐसा हो जाना पुण्य कर्मों के अन्दर मिश्रित पाप कर्मों का फल ही समझना होगा। इसी प्रकार से किसी व्यक्ति का जन्म पाप कर्मों के फलस्वरूप ऐसे किसी घराने के अन्दर हो गया जिसमें जन्म लेने पर उसके मन में कोई शुभ भावना बने ही नहीं उल्टा वह चोरी करता रहे, डकैती डालता रहे, यह सब निकृष्ट कर्म है किन्तु ये कर्म करते हुये भी बीच में शुभ भावना बनी रहे जिसके फलस्वरूप कुकर्मों के द्वारा पैदा किए उस पैसे से उसने किसी गरीब कुल की कन्या की शादी करा दी अथवा किसी पाठशाला, कालेज, स्कूलों आदि में पैसा दे दिया। तो यह मानना चाहिए कि यही वे कर्म है जो पाप कर्मों के भोग काल के बीच में पुण्य का भोग आ गया है। जिसके फलस्वरूप उसके मन में कोई शुभप्रवृत्ति बन जायेगी जिसके फलस्वरूप वह तप–स्वाध्याय एवं ध्यान आदि की तरफ बढ़ने लगेगा? जिसके परिणामतः

उसके कठोरतम संस्कारों का भुगतान जल्दी में निपट जायेगा? यद्यपि यह सिद्धान्त तो सभी को मान्य है कि–

प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षय:।

अर्थात्–जिन कर्मों का भोग एक जन्म में शुरू हो गया है वे सब मनुष्य को भोगने ही पड़ते हैं। किन्तु भगवान पतंजलि देवजी ने अपने योगदर्शन में कुछ वर्णन किया है। दृश्य जन्म संवेदनीय कर्म वे कहलाते हैं जो इसी जन्म में कर्म किए जायें और इसी जन्म में उनका फल भोग भी मिल जाये, यह कर्म इस प्रकार के होते हैं जिनके फलस्वरूप मनुष्य अपने कठिन से कठिन प्रारब्ध को बदल डालता है। इसका उल्लेख भगवान पतंजलि देव ने इस प्रकार किया है–

क्लेश मूल: कर्माशयो: दृष्टादृष्ट संवेदनीय।

अर्थात्–हमारा कर्माशये दो प्रकार का है दृष्ट जन्म संवेदनीय और अदृष्ट जन्म संवेदनीय। कुछ कर्मों के फल ऐसे होते हैं जिनका फल मनुष्य को जन्म जन्मान्तर में भोगना पड़ता है और कुछ इस प्रकार के गाढ़ी लगन से किये गये कर्म होते हैं जो इसी जन्म में तेज लगन से किए जाते हैं और इसी जन्म में फलित हो जाते हैं और यह कर्म प्रारब्ध कर्मों के भोग को तत्काल बदल डालते हैं इन सभी कर्मों का निरूपण व्यासदेव ने उपरोक्त सूत्र के भाष्य में इस प्रकार किया है–

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशय: कामलोभमोहक्रोधभव:। स दृष्टजन्मवेदनीय–श्यादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्रतीव्रसंवेगेन मन्त्रतप:समाधिभिनिर्वर्तित: ईश्वरदेवता–महर्षिमहानुभावा नामाराधनाद्वा य: परिनिष्पन्न:स सद्य: परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति।

इस प्रकार से पुण्य और अपुण्य रूप दो प्रकार का कर्माशय है और यह काम क्रोध लोभ से बनता है। वह कर्माशय दृष्ट जन्म संवेदनीय और अदृष्ट जन्म संवेदनीय कहलाता है। उसमें भी जो लोग गाढ़ी लगन के साथ मन्त्रों का जप करते हैं अर्थात् स्वाध्याय करते हैं, तेज लगन के साथ तप करते हैं या दृढ़ लगन के साथ समाधि लगाते हैं, ध्यानाभ्यास करते हैं या जिन लोगों पर ईश्वर देवता सिद्ध और मुनि लोगों की कृपा हो जाती है उनका पुण्य मूलक कर्माशय दृष्ट जन्म संवेदनीय बन करके तत्काल फल का दाता बन जाया करता है। स्वाध्याय–तप, समाधि और महानुभावों की कृपा ये चारों ही साधन ऐसे होते हैं जो दृष्ट जन्म संवेदनीय पुण्य कर्माशय को तत्काल तैयार कर देते हैं और तत्काल फल के दाता बन जाया करते हैं।

ये चार साधन जिनका संकेत अपने भाष्य से श्री व्यासदेव ने किया है अमिट और अमर है। सबसे पहले उन्होंने मन्त्र पर प्रकाश डाला है। मन्त्र का अर्थ है—मन्त्र का जप करना। यही स्वाध्याय कहलाता है व्यास—भाष्य में स्वाध्याय के अर्थ को भी स्पष्ट करते हुए व्यास देवजी कहते हैं—

प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः, मोक्षशास्त्राणां अध्यनं वा स्वाध्यायः।

अर्थात्—ओंकार आदि परमात्मा के पवित्र नामों का जप करना और इसके साथ—साथ उपनिषद, गीता आदि का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। जो व्यक्ति तप के साथ स्वा–ध्यायशील बन जाते हैं वह सब प्रकार से अपने आपको कृतकृत्य बना लेते हैं। तप का अर्थ है—द्वन्द्व सहन तपः। अर्थात् सर्दी गर्मी भूख—प्यास के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है और तप का फल निकलता है मनुष्य को कायिक और ऐन्द्रिय शक्ति का संवर्धन। इसी प्रकार से स्वाध्याय का परिणाम यह निकलता है कि जो लोग ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए द्वन्द्व सहन पूर्वक स्वाध्याय रत रहते हैं उनको अवश्य ही इष्ट देव की कृपा सुलभ हो जाया करती है। महर्षि भगवान पतंजलि देव ने स्वाध्याय के फल को बतलाते हुए बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

स्वाध्यायदिष्ट देवतासम्प्रोगः।

इस पर व्यास—भाष्य है—

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शन गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्त इति।

अर्थात्—ऋषि मुनि और सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति के सामने आकर दर्शन दिया करते हैं और वरदान देकर उसकी मन कामना को पूर्ण कर दिया करते हैं। अर्थात् तप और स्वाध्याय के फलस्वरूप साधक के अन्दर देव दर्शन की योग्यता अनायास ही आ जाया करती है। इसके बाद गुरुदेव की कृपा पूर्वक जो लोग समाधि की भूमिकाओं में पहुँच जाते हैं उनके भी ये सब काम सहज में ही बन जाते हैं इसके साथ—साथ यदि देवता और ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त हो जाये तो फिर कहना ही क्या है। फिर तो सकल सफलतायें साध क के सामने स्वतः उपस्थित हो जाया करती हैं। इस प्रकरण को समझाने के लिए श्री मारकण्डेयजी का उदाहरण उत्कृष्ट है। मृकण्ड ऋषि ने घोर तप—तपस्या की उनके तप और स्वाध्याय के फलस्वरूप भगवान शिव ने दर्शन दिये और कहा हे ऋषि वरदान माँगो। मृकण्ड ऋषि के घर में सन्तान नहीं थी इसलिये उन्होंने पुत्र प्राप्ति के लिए प्रार्थना की, जिसके उत्तर

में भगवान शिव ने कहा कि तुम्हें दो प्रकार का पुत्र प्राप्त हो सकता है एक तो वह जो सौ वर्ष जीवित रहेगा और लंगड़ा, लूला, अपाहिज होगा। उसकी सभी सेवायें तुम्हें ही करनी होंगी। इसके अतिरिक्त दूसरा ऐसा पुत्र मिल सकता है जो सोलह साल तक जीवित रह सकता है। सोलह साल बाद मर जायेगा। वह परम तपस्वी, स्वाध्याय शील, योग–परायण एवं साधु महात्मा और ऋषियों की सेवा करने वाला होगा किन्तु उसकी मृत्यु सोलह वर्ष में ही हो जायेगी। भगवान शंकर के ऐसा कहने पर मृकण्ड ऋषि ने सोलह वर्ष जीने वाले पुत्र को ही माँग लिया। भगवान शंकर के वरस्वरूप मृकण्ड ऋषि के घर में इसी प्रकार का बच्चा पैदा हो गया। पाँच साल की अवस्था से ही वह बच्चा जप, तप परायण हो गया और ऋषि महर्षियों की सेवा करने लगा। उसके फलस्वरूप जब सोलहवीं वर्ष में उसका मृत्युकाल समीप आया तो उसके तीव्र संयम स्वाध्याय के फलस्वरूप भगवान शंकर उसके सामने प्रगट हो गए और उन्होंने यमराज को भगाकर के उसी दिन उस बालक को अजर–अमर कर दिया जो आज भी मारकण्डेय रूप में अजर–अमर है और सभी लोक–लोकान्तरों में विचरण करते रहते हैं। जिस भी लोक में प्रलय आती है तो मारकण्डेयजी उससे विपरीत दूसरे लोक में चले जाते हैं।

उपरोक्त लेख के अनुसार यह चार साधन ही ऐसे हैं कि जिनको अनुष्ठान में लाने पर साधक को अपने क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों वाले प्रारब्ध को बिल्कुल परिवर्तित कर सकता है जो लोग पुरुषार्थहीन होकर आलस्य और प्रमाद में पड़े रहते हैं और अपने भाग्य पर ही निर्भर रहते हैं उनको यह लेख गौर के साथ पढ़ना चाहिए और पुरुषार्थपरायण होकर अपने आपको ऊँचा उठाना चाहिये।

उद्योगिनं पुरुष सिंह मुपैति लक्ष्मी,

दैवेन देय मिति का पुरुषा वन्दन्ति।

अर्थात्–उद्योगी पुरुष को लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है कायर पुरुष दैव दैव ही पुकारा करते हैं। इसलिये पुरुषार्थशील बनो।

सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः

सर्वेभद्राणि पश्यन्ति मा कश्चिदु:ख भाग्भवेत्।

सम्पादकीय–

कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः

–आचार्य (डॉ.) दासलाल जी महाराज

पृथ्वीलोक कर्म बन्धन का लोक है। यहाँ मनुष्य पुराने कर्मों के फल को तो भोगने आता ही है साथ–साथ वह नये कर्म भी करता है क्योंकि कर्म करना मनुष्य के स्वभाव में है। कोई भी व्यक्ति एक क्षण के लिये कर्म किये बिना नहीं रहता।

न हि कश्चिद्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म कृत्,
कार्यवे ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृति जैगुणैः।

गीता 3/5

उसके अच्छे बुरे संस्कार उसे कर्म करने के लिये प्रेरित करते हैं। परिणामस्वरूप वह अपने संस्कार व वृत्ति के अनुसार कर्म में प्रवृत्त रहता है।

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा'

विधाता ने इस दुनिया को कर्म प्रधान रचा हुआ है जो जैसा कर्म करता है उसे वैसे ही फल मिला करता है। गीता में भी भगवान कहते हैं–

'कर्मण्येवाधिकारस्ते' 'कर्मणि एव अधिकारः ते' तेरा कर्म में अधिकार है किन्तु फल में तेरा अधिकार नहीं है। **'मा फलेषु कदाचन'**। कर्म करने के लिये मनुष्य स्वतन्त्र है किन्तु फल पाने के लिये स्वतन्त्र नहीं है। अर्थात् कर्मानुसार ही उसे फल मिलेगा। और यह भी कहा गया है। **'अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतम् कर्म शुभाशुभम्'** शुभ और अशुभ कर्मों का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है।

गीता में मुख्य रूप से (कर्म योग का विषय है) एक से छः अध्याय कर्मयोग से सम्बन्धित हैं। मनुष्य अपनी वृत्ति एवं संस्कार के अनुसार ही कर्म करता है। हर मनुष्य के कर्म उसके संस्कार के अनुसार ही बनते हैं। संस्कार से वृत्ति बनती है और फिर वृत्ति के अनुसार कर्म बनते हैं। गीता में कर्म मीमांसा पर बहुत गूढ़ विचार किया गया है। दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान ने कहा कि यदि योगी ब्राह्मी–स्थिति में स्थित रहकर शरीर का त्याग कर देता है तो वह ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। भगवान् के इस प्रकार

के वचनों को सुनकर तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में ही अर्जुन कहने लगते हैं—यदि आप ज्ञान योग को कर्म से श्रेष्ठ मानते हैं तो आप मुझे इस प्रकार युद्ध जैसे क्रूर कर्म में क्यों लगा रहे हैं? इस प्रकार के प्रश्न को सुनकर भगवान् कहने लगे—अर्जुन! मैंने प्राचीन काल में ही मनुष्यों को दो प्रकार की निष्ठा का उपदेश किया है। वह है सांख्य योगियों व ज्ञान योगियों के लिये ज्ञान योग का उपदेश तथा योगियों के लिये कर्म योग का उपदेश किया है। अर्जुन तुम कर्म योग के अधिकारी हो अतः अनासक्त होकर सतत् कर्म करते रहो इस प्रकार अनासक्त होकर कर्म करते रहने से मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। पूर्वकाल में भी जनक आदि राजर्षियों ने भी कर्मयोग से ही परम कल्याण को प्राप्त किया है। कर्म की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है। रजोगुण मनुष्य को कर्म में लगाता है। मनुष्य अधिकतर रजोगुणी होता है अतः उसे कर्म में रत रहना चाहिये। पुनः पाँचवें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन भगवान से प्रश्न करते हैं—''प्रभो! आप कर्मों के सन्यास की बात करते हैं और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं, इसलिये इन दोनों में से मेरे लिये जो एक कल्याणकारी साधन हो उसे कहिये।'' मुझे स्पष्ट आदेश दें मैं उसे ही करूँ। इस पर भगवान कहते हैं—अर्जुन! कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही मुक्ति के दाता हैं किन्तु इन दोनों में से कर्मसन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है—

तयोस्तु कर्म सन्यासात् कर्म योगो विशिष्यते।

हे अर्जुन! तुम उसे नित्य संन्यासी जानो जो न तो किसी से द्वेष करता है और न ही किसी की आकांक्षा करता है। ज्ञान योग से जो स्थिति या स्थान प्राप्त किया जाता है वही स्थान कर्मयोग से भी प्राप्त होता है। जो साधक सांख्य अर्थात् ज्ञान योग एवं कर्मयोग को एक ही मानता है वह ठीक समझने वाला है। ध्यान योग के बिना कर्म सन्यास को प्राप्त करना कठिन है जबकि योग युक्त मुनि बहुत जल्दी ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। बारहवें अध्याय में भी भगवान कहते हैं कि 'ध्यानात् कर्मफल त्यागः, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' गीता 12/12। इस प्रकार से ध्यान योग की प्रतिष्ठा से ही शान्ति की अखण्ड प्राप्ति की बात भगवान ने कही है। जबकि ध्यान योग से रहित व्यक्ति कामनाओं से ग्रसित हुआ कर्मफल में बँध जाता है या फँस जाता है। हे अर्जुन! जो संस्पर्श जन्य भोग हैं उनके मूल में या परिणाम में दुःख ही है क्योंकि वे भोग आदि—अन्त वाले हैं इसलिये सुधीजन योगी उनमें रमण नहीं करते। अर्जुन! जो शरीर के रहते—रहते ही काम और क्रोध के वेग सहन करने में सक्षम होता है वही योगी है और वही सुखी भी है। ऐसा योगी शीघ्र ब्रह्म निर्वाण को अर्थात् मुक्ति को पा जाता है। योगी लोग आसक्ति को त्यागकर इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते रहते हैं—

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगंत्यक्त्वात्म शुद्धये।

गीता 5/11

गीता के छटे अध्याय में भी भगवान कहते हैं—जो साधक कर्मफल को लक्ष्य किये बिना करने योग्य कर्म करता रहता है वही योगी है और वही संन्यासी है। अर्जुन! जिसे सन्यास कहते हैं उसे ही तुम योग जानो क्योंकि बिना संकल्प–विकल्प के त्यागे योगी नहीं बन सकता।

इस प्रकार से भगवान ने योगी और संन्यासी का एक स्थिति मानकर एक ही व्यक्ति के दो नाम की तरह माना है। इसे पर्याय ही माना है। आगे अष्टादश अध्याय में भगवान कहते हैं—

न हि देह भृता शक्यं व्यक्तुं कर्माण्यशेषतः
यस्तु कर्मफल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।

कोई भी देहधारी मनुष्य पूर्णरूप से कर्मों का त्याग नहीं कर सकता इसलिये जो कर्म फल का त्यागी है वही वास्तविक त्यागी है।

गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान् ने मनुष्य द्वारा किये जाने वाले तीन प्रकार के कर्मों का उपदेश किया है। वे हैं इष्ट कर्म, अनिष्ट कर्म तथा इष्टानिष्ट मिश्रित कर्म। इन्हीं तीन प्रकार के कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इष्ट कर्म पुण्य के कर्म हैं अनिष्ट कर्म पाप के कर्म हैं तथा पाप–पुण्य मिश्रित कर्म हैं। ये तीन प्रकार के कर्म अज्ञान के कारण बनते हैं। भगवान पतंजलि देव जी ने भी तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख किया है।

आशुक्लाकृष्ण योगिनाम् त्रिविधमितरेषाम्

यो. सू.

अर्थात् योगियों के न पुण्य के कर्म होते हैं तथा न पाप के (कृष्ण कर्म) होते हैं। किन्तु संसारियों के तीन प्रकार के कर्म होते हैं। ध्यानयोगियों के कोई कर्म नहीं बनते।

वेद भगवान की भी आज्ञा है—

कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजीविशेत शतः समाः।

अर्थात् मनुष्य को कर्म करते हुये सौ वर्ष तक स्वस्थ रहकर जीने की इच्छा करना चाहिये। इस प्रकार से वेद भगवान् की भी आज्ञा है मनुष्य को नश्वर देह से कर्म करते हुये अविनाशी पद तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिये।

मनुष्य शरीर से पाप कर्म भी बनते रहते हैं उनके फल को नष्ट करने के लिये मनुष्य

को पुण्य के कार्य करना चाहिये। जिस प्रकार से काँटे से काँटा निकाला जाता है उसी प्रकार से पाप को पुण्य कर्म से धो देना चाहिए। जाप, ध्यान आदि आध्यात्मिक कर्म सद्यः मनुष्य को पावन बना देते हैं। उपनिषद में आया भी है—

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णम् बहुयोजनम्

भिद्यते ध्यान योगेन, नान्यो भेता कदाचन्।

अर्थात् पहाड़ के समान पाप कर्म भी ध्यान योग से छिन्न–भिन्न हो जाते हैं अतः मनुष्य को ज्ञान एवं मुक्ति प्रदान करने वाले कर्म करने चाहिए वह ध्यान योग ही है।

युक्त योगी कर्म फल का त्याग करके अखण्ड शान्ति को प्राप्त करता है। किन्तु सकाम पुरुष योग विहान होने के कारण फल में आसक्त होकर बँध जाता है—पढ़िये निम्न श्लोक—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्ति माप्नोति नैष्ठिकीम्

अयुक्तः काम कारेण फले सक्तो निबध्यते।

ध्यान योगी कर्मों से बँधता नहीं है अतः अखण्ड शान्ति को प्राप्त करता है। अतः ध्यान योग का अभ्यास करना चाहिए यदि मनुष्य को अखण्ड शान्ति की इच्छा हो।

आत्मानन्द

आनन्द से आत्मा की आत्म प्रतीति अथवा आत्म साक्षात्कार की अनुभूति होती है। आत्मानन्द का प्रभाव बुद्धि को सुखमय स्वस्थ एवं संतृप्त कर देता है तथा समस्त व्यक्तित्व तृप्त हो जाता है। प्रारम्भ में लगभग बीस मिनट तक आँखें बन्द करके गहरे ध्यान में बैठे ही रहना चाहिए। अभ्यास होने पर भी लगभग 30–40 मिनट तक ध्यान में बैठना पर्याप्त होता है। दिन में दो बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

ध्यान के पश्चात् भौं को हलके से मलते हुए धीरे–धीरे आँखें खोलकर दो–तीन मिनट तक शान्त होकर बैठे ही रहना चाहिए। कभी–कभी सामूहिक ध्यान में बैठना भी ध्यानाभ्यास में सहायक होता है। ध्यान का उद्देश्य प्रभु से सम्बन्ध जोड़ना और दिव्यानुभूति का अनुभव करना है।

—शिवानन्द

नव वर्ष मंगलमय हो!

ईस्वीय सन् 2019 का अवसान् हो चुका है और सन् 2020 का शुभागमन हो रहा है। मनुष्य के जीवन का एक वर्ष प्रतिवर्ष घट जाता है और उसकी आयु समाप्ति की ओर जाती रहती है। इस प्रकार से–

आदित्यस्य गतागते संक्षीयते च जीवितम्' सूर्य के उदय अस्त से मनुष्य का एक दिन घट जाता है। मनुष्य जीवन में इतना व्यस्त हो जाता है कि उसे आयु के खिसकने का पता ही नहीं चलता।

नये वर्ष के आगमन से मनुष्य अपने सुनहरे भविष्य के स्वप्न लेना शुरू करता है। नई–नई योजनायें बनाता है। पिछले वर्ष में हुई गलतियों को सुधारकर भावी जीवन को सुमधुर बनाने का प्रयास करता है। जीवन में आत्म–कल्याण और परोपकार के लिये तत्पर हो जाता है। यदि समय का पूर्व में सदुपयोग किया है तो उसे आत्मसंतोष भी मिलता है।

आइये! हम सब इस नई बेला में अपने मन को शुद्ध व दृढ़ करके जीवन को प्रकाश की ओर बढ़ाते चलें ताकि आने वाले दु:ख का परिहार कर सकें। महर्षि पतंजलि देव जी हमें जीवन सूत्र देते हुये कहते हैं–**'हेयम् दु:खमनागतम्'** अर्थात् आने वाले दु:ख को हम दूर कर सकते हैं। इसके लिये हम पुरुषार्थ करेंगे जिससे स्वर्णिम भविष्य का निर्माण कर सकें। हमारे सब कार्य नेकी के लिये हों। जग की सुख समृद्धि व कल्याण के लिये हों। अत: सभी सुधी पाठकों को हमारी हार्दिक शुभ कामनायें प्रेषित हैं।

वैसे हिन्दुओं का नया वर्ष चैत्र नवरात्र से ही आरम्भ होता है। इस्वी या सन् तो सरकारी कामकाज के हिसाब से बना हुआ है। अत: यह भी नव वर्ष तो है ही। आइये मंगलकामना करें।

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग् भवेत।।

–सम्पादक

पवित्र-कर्म और उनका प्रतिफल

—श्री कर्मनारायण कपूर

1—सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्द जी कहते है कि पवित्र-कर्म, पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान से मुक्ति होती है। अतः यह सिद्ध है कि पवित्र-कर्म ही आत्मोन्नति तथा मोक्ष का प्रधान कारण है।

2—कर्तृ शब्द 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ करना है। जो किया जाये वह ही कर्म होता है। गीता कर्म अकर्म और विकर्म में भेद करती है। कर्म का तात्पर्य कर्तव्य कर्म अकर्म का कर्तव्यकर्म का न करना और विकर्म का अर्थ है उलटा कर्म करना। कोई मनुष्य कुछ न कुछ कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता।

3—कर्म के दो भेद हैं—व्यक्तिगत कर्म तथा अव्यक्तिगत कर्म, अर्थात् जिनका अन्य प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है। व्यक्तिगत कर्मों के पुनः चार भेद होते हैं, वे हैं—

(क) खाना, पीना, सोना, खेलना आदि। इन कर्मों के परिणामस्वरूप मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहता है।

(ख) सत्य बोलना तथा मन से सब का भला सोचना। इनसे मन शुद्ध होता है।

(ग) विद्या (ज्ञान) प्राप्त करना तथा तप करना। इनसे आत्मा की शुद्धि होती है।

(घ) ईश-उपासना। इससे आत्मा को आनन्द प्राप्त होता है, मनु महाराज ने कर्म के तीन भेद किये हैं—कायिक, मानसिक तथा वाचिक।

प्राणी शरीर से, मन से तथा वाणी से किये हुये शुभाशुभ कर्मों के फलों को शरीर, मन तथा वाणी द्वारा ही भोगता है। जिस कर्म को करने से मनुष्य को लज्जा नहीं आती और जिसके करने से आत्मा प्रसन्न होती है, वह कर्म सात्विक समझना चाहिए।

4—कर्म और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म का धात्वर्थ है "जो धारण करे।" केवल कर्म ही मानव को धारण कर सकता है न कि कोरा विश्वास। कोरा विश्वास धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आ सकता है। इसीलिए मनु महाराज ने कहा है—

आचारः परमो धर्मः

संस्कृत साहित्य में 'धर्म' शब्द अनेकों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है यथा—स्वधर्म, परधर्म जातिधर्म तथा कुलधर्म, राजधर्म, संन्यासियों के विशेष धर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, स्त्रीधर्म

आचार्य और शिष्य का धर्म।

मनु और व्यासजी कहते हैं कि "युगमान के अनुसार–कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भी भिन्न–भिन्न होते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्त्तव्य कर्म तथा धर्म पर्यायवाची शब्द हैं। इसकी पुष्टि गीता से होती है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं–"इसके सिवा स्वधर्म की ओर देखें तो भी इस समय तुम्हें हिम्मत हारनी उचित नहीं है।"

क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना तथा राज्य–व्यवस्था करना होता है। यह दोनों कर्म (कर्त्तव्य) ही हैं। अपरंच मनु का वचन है कि "धर्म ही एक सहृदय है जो मृत्यु के उपरान्त भी साथ जाता है।" इस तथ्य का प्रमाण है कि धर्म शुभाशुभ कर्म का द्योतक है।

5–संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कल्याणकारक तथा परोपकारक कर्म ही शुभ कर्म होते हैं, इनकी गणना नहीं की जा सकती और न ही इन शुभ कर्मों की सीमा निर्धारित की जा सकती है। तथापि पाठकों की जानकारी हेतु कुछ शुभ (पवित्र) कर्मों की सूची दी जाती है।

(क) सत्य बोलना–"न हि सत्यात्परो धर्मः–अर्थात् सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। "सत्यमेव जयते नानृतं।" "धर्मः सत्येन वर्द्धते।" यह महावाक्य हैं जो सदैव ध्यान में रखने योग्य हैं।

किसी घटना, कर्म, स्थिति तथा वस्तु का ठीक–ठीक वर्णन करना ही सत्य कहलाता है। सत्य से ही राष्ट्र, समाज तथा न्याय की रक्षा हो सकती है। इसके बिना राष्ट्र, समाज तथा न्याय उथल–पुथल हो जाता है और अचिन्त्य विप्लव अनिवार्य हो जाता है इसलिये ऋग्वेद की सूक्ति है–"सत्येनोत्तमिता भूमिः" अर्थात् सत्य से ही भूमि का धारण होता है। यहाँ भूमि का अर्थ भूमि–निवासी मनुष्यों का है। हिन्दी कवि का कथन है–

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप।।

यह तो निर्विवाद है कि सत्य बोलने से कभी–कभी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अपने व्यवसाय में हानि हो सकती है, मित्र और बन्धु रुष्ट हो जाते हैं और शत्रु बन जाते हैं, पर स्मरण रहे कि धर्माचरण कोई सरल बात नहीं। धर्म पर आचरण करना वैसा ही कठिन है जैसा कि छुरा की धार पर चलना।

सत्य बोलने के नियम का एक अपवाद है, निरपराधी व्यक्ति की जान बचाने के लिए असत्य बोलना पाप नहीं है।

नारद का कथन है—"सच बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है जिससे सब प्राणियों का हित हो, क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है वही हमारे मत से सत्य है।"

(ख) सत्याचरण अथवा सत्यशीलता।

सत्य बोलने का अवसर मनुष्य को कभी–कभी मिलता है, किन्तु जीवन के प्रत्येक स्तर पर हर व्यक्ति को सत्याचरण के और सत्यशीलता प्रगट करने के अवसर पग–पग पर मिलते रहते हैं। चाहे वह दुकानदार हो, डॉक्टर हो, वकील हो, अधिकारी हो अथवा साधारण कार्यकर्त्ता हो।

शुद्ध वस्तुओं का बेचना, उचित दर लेना और ठीक तोलना गलती से प्राप्त अधिक धन व वस्तु का वापिस करना; रोगी को ठीक–ठीक जाँच कर दवाई देना; मुवक्किल का ईमानदारी से काम करना; दिये हुए वचन का पालन करना; दुखियों की सेवा करना; मधुर वचन बोलना; नम्र रहना, प्राणिमात्र से प्रेम और सद्व्यवहार करना; अपकार करने वाले का उपकार करना; क्षमा करना; अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करना; रेलगाड़ी में अपना अधिक सामान बुक कराना, चुंगीकर स्वयं देना; आय कर पूरा भर देना; सर्वहितकारी नियमों का पालन करना; घूस (रिश्वत) को ठुकराना; भय, प्रलोभन, आफीसर की स्पष्ट तथा सांकेतिक अनुचित आज्ञा की उपेक्षा करते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करना; जल निमग्न व्यक्ति को बचाना; इत्यादि कर्म कर्ता के सत्याचरण तथा सत्यशीलता के मुँह बोलते उदाहरण हैं।

(ग) माता–पिता, गुरु, वृद्धजनों की आज्ञाओं का पालन करना तथा उनकी धन–धान्य, वस्त्र, औषधियों आदि द्वारा सेवा करनी चाहिए। यह प्रत्येक व्यक्ति का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है।

तैत्तिरीय उपनिषद् का वाक्य है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथिदेवो भव।

अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देव समझना चाहिए।

किसी व्यक्ति ने स्वामी दयानन्द से प्रश्न किया था कि वह इतने योगी हैं और पूर्ण ब्रह्मचारी हैं तो किस कारण आपको अपने कार्य में इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई जितनी कि होनी चाहिए थी। स्वामीजी ने उत्तर दिया, इसका एकमात्र कारण यह है कि मुझे माता–पिता का आशीर्वाद प्राप्त न हो सका।

(घ) यज्ञ करना, दान देना और तप करना। यजुर्वेद में यज्ञ की महिमा का वर्णन किया

है। यज्ञ से आयु, प्राण, अपान, व्यान, मन, वाणी, चक्षु, श्रुति, आत्मा आदि की सुव्यवस्था का वर्णन मिलता है।

रामायणकाल में यज्ञों का विस्तार था। ऋषियों के आश्रमों में यज्ञ होते रहते थे। ऋषि विश्वामित्र अपने यज्ञ की (राक्षसों से) रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण को ले गये थे। महाभारत काल में युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ तो प्रसिद्ध ही है। उत्तर महाभारत काल में यज्ञों का प्रायः लोप हो गया, उपनिषद् काल में ऋषि वनों में रह कर ब्रह्मचर्चा किया करते थे। उपनिषदों में यज्ञों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में दान की महिमा इस प्रकार की गई है–

श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना। अपनी बढ़ती में श्री से देना; श्री न बढ़ रही हो तो भी लोक–लाज से देना। भय से देना, प्रेम से देना।

गीता में कहा है कि यज्ञ–दान और तप इन कर्मों को करना ही चाहिये। ये बुद्धिमानों को भी पवित्र करने वाले हैं। इन कर्मों को बिना असक्ति के, फलाशय को त्यागकर करना चाहिये।

जो यज्ञ फलाशा को छोड़कर अपना कर्तव्य समझ करके, शास्त्र की विधि के अनुसार

नये वर्ष का शुल्क

सभी–ग्राहकों को सूचित किया जाता है कि इस वर्ष का शुल्क मार्च के अंक के साथ ही समाप्त हो जाता है। अतः ग्राहकों से निवेदन है कि अगले वर्ष अप्रैल 2020 से आरम्भ होने वाली नये साल के शुल्क के रूप में निम्न प्रकार से जमा करें।

वार्षिक शुल्क = 200 रु.

द्विवार्षिक शुल्क = 380 रु.

आजीवन (10 वर्ष) = 1000 रु.

यह शुल्क कार्यालय में जमा करा देवें ताकि आप को समय पर पत्रिका मिल सके।

जय गुरुदेव की !

सम्पादक–
सिद्धयोग

शान्त–चित्त से किया जाता है वह सात्विक यज्ञ है।

वह दान सात्विक कहलाता है जो कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाता है, जो योग्य स्थल काल और पात्र का विचार करके किया जाता है। एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को दिया जाता है।

देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शरीर का तप कहते हैं। मन को उद्विग्न करने वाला सत्य, प्रिय और हितकर सम्भाषण को तथा स्वाध्याय को वाचिक तप कहते हैं। मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना–इन को मानस तप कहते हैं। इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा न रखकर श्रद्धा से योगयुक्त बुद्धि से करे तो वे सात्विक कहलाते हैं वास्तव में सर्दी–गर्मी और कष्ट का सहन करना ही शरीर का तप है।

आज के युग में न यज्ञ रहा है और न तप रहा है। आर्य समाज ने अग्निहोत्र का प्रचार अवश्य किया है किन्तु वह भी शून्य के बराबर है। अग्निहोत्र से जलवायु अन्न आदि की शुद्धि तो होती है किन्तु आधुनिक समय मे पेट्रोल, गैस, धुंवा, धूलि आदि के कारण वायु इतनी दूषित हो गई है कि थोड़े से रविवासरीय अग्निहोत्र इसका प्रतिकार नही कर सकते। भारत एक निर्धन देश है। अतः वायुशुद्धि का कार्य व्यक्तिगत रूप से होना असम्भव है। यह बहुत कार्य तो सरकार ही कर सकती है।

जहाँ तक तप का प्रश्न है वह असम्भव सा हो गया है। साइन्स ने मनुष्य के लिये इतनी भोग–ऐश्वर्य–विलासिता की सामग्री प्रदान कर दी है कि इस वातावरण तथा स्थिति में शारीरिक, मानसिक तथा वाणी के तप का सवाल ही उत्पन्न नही हो सकता। यह सत्य है कि इस युग में दान की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। धन अधिक संख्या में मनुष्य को प्राप्त हो रहा है। यह दूषित धन–दान संस्थाओ को दूषित करके मनुष्य को अधोगति की ओर ले जा रहा है। न सात्विक धन रहा है और न सात्विक दान; न सात्विक दानी रहे और न ही सात्विक पात्र रहे हैं।

(ङ) **दया**–दया तो एक ईश्वरीय गुण है। भगवान् कर्मानुसार न्याय तो करते हैं पर साथ ही दया भी करते हैं। वह पाप कर्मों को क्षमा तो नहीं करते पर उनकी दया की दृष्टि सब प्राणियों पर सदा रहती है। अंग्रेजी की कहावत है। God's justice is tempered with Mercy–ईश्वर का न्याय दया से द्रवीभूत होता है।

प्रत्येक प्राणी को दीन–दुखियों पर दया करनी चाहिये और उनकी यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए।

कवि कहता है—

दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये जब तक घट में प्रान।।

(च) **क्षमा**—जब किसी व्यक्ति को दूसरे से क्लेश मिलता है तो उसके मन की शान्ति भंग हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह यदि उपकार करने वाले को क्षमा कर देवे तो उसका मन शान्त हो जायेगा। इसके प्रतिकूल वह उपकार करने वाले के मन में पश्चाताप की भावना उत्पन्न कर उसके सुधार का भागी बन जायेगा।

क्षमा करना तो संन्यासियों का भूषण है और न्यायाधीश का अवगुण है।

(छ) अब पाप (अशुभ) कर्मों का संक्षिप्त वर्णन उचित होगा। इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से है—

(1) हिंसा (2) चोरी करना (3) लालच करना (3) घूस रिश्वत लेना (5) द्वेष करना (6) जुआ खेलना (7) पर स्त्री–पुरुष गमन (8) क्रोध करना (9) कठोर शब्द और झूठ बोलना (10) दूसरे का बुरा चाहना (11) कर्त्तव्य कर्म न करना (12) माता–पिता तथा वृद्धजनों का तिरस्कार करना (13) वचन का पालन न करना (14) राजकीय और सामाजिक नियमों का उल्लंघन करना (15) विश्वासघात करना (16) मित्रद्रोह करना (17) खाद्य तथा अन्य वस्तुओं में मिलावट करना (18) काला धन कमाना (19) धोखा देना (20) झूठे प्रमाणपत्र देना (21) झूठे बिलों द्वारा धन प्राप्त करना (22) व्यर्थ लड़ाई झगड़ा करना (23) दूसरे का अपमान करना (24) धरोहर (सौंपे हुए धन) का वापस न करना (25) अपशब्द बोलना (26) उद्दण्डता (27) दूसरों के धन व सम्पत्ति पर अधिकार करने की चेष्टा करना।

7—यह स्मरण रहे कि शिशु बालक और पागल व्यक्ति शुभाशुभ कर्म करने में अशक्त होते हैं, क्योंकि उनको सत्य–असत्य पाप–पुण्य का भेद ज्ञात नहीं होता है। न्याय में अदण्डनीय होते हैं।

8—अन्त में भारतीय सन्तों तथा ईसाई पादरियों के ईश्वरीय विशेष अनुग्रह तथा God's grace (ईश्वरीय अनुकम्पा) का विवेचन करना है।

यह तो सत्य है कि शुभाशुभ कर्मों का फल तो अवश्यमेव भोगना होता है। उसमें किंचित् मात्र भी न्यूनाधिकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपने शुभाचरण अथवा भक्ति के कारण ईश्वर की दया तथा अनुकम्पा का पात्र बन सकता है। इस सिद्धान्त पर कुछ आपत्ति नहीं हो सकती। कर्मफल तथा ईश्वरीय विशेष अनुग्रह में कोई विरोध नहीं है क्योंकि ईश्वरीय अनुग्रह भी तो प्राणी के कर्म (भक्ति अथवा अन्य कर्म) के फलस्वरूप होता है? न

कि अकारण।

गीता में स्पष्ट लिखा है कि परमेश्वर किसी का पाप और किसी का पुण्य नहीं लेता है।

मुण्डक उपनिषद् का कथन है कि परमात्मा बड़े-बड़े भाषणों से नहीं मिलता, न ही तर्क-वितर्क से और न ही बहुत सुनने से। जिसको वह वरण कर लेता है वह ही उसे प्राप्त कर सकता है; उसके सामने परमात्मा अपने स्वरूप का विवरण करता है।

संसार में यह देखा जाता है कि किसी वस्तु व व्यक्ति का वरण उसके गुणों के आधार पर होता है। यह असम्भव व तर्क-विहीन है कि सर्व न्यायकारी परमेश्वर पात्र की योग्यता के बिना ही उसका वरण करता है। अतः यह निष्कर्ष सत्य है कि परमात्मा का विशेष अनुग्रह व्यक्ति के विशेष शुभ कर्मों पर ही आधारित होता है।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः

—गीता

दूसरे का धर्म सरल-मालूम हो तो भी उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। बहुत बार सरलता आभासमात्र ही होती है। घर-गृहस्थी में बाल-बच्चों की ठीक संभाल नहीं की जाती, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ संन्यास ले ले, तो वह ढोंग होगा और भारी भी पड़ेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाएं जोर पकड़ेंगी। संसार का बोझ उठाया नहीं जाता, इसलिए जंगल में जाने वाला पहले वहाँ छोटी-सी कुटिया बनायेगा। फिर उसकी रक्षा के लिये बाड़ लगायेगा। ऐसा करते-करते वहाँ भी उस पर सवाया संसार खड़ा करने की नौबत आ जायेगी। यदि सचमुच मन में वैराग्यवृत्ति हो, तो फिर संन्यास की कौन कठिन बात है? संन्यास को आसान बताने वाला स्मृति-वचन तो है ही। परन्तु मुख्य बात वृत्ति की है। जिसकी जो सच्ची वृत्ति होगी, उसी के अनुसार उसका धर्म होगा। श्रेष्ठ-कनिष्ठ, सरल-कठिन का यह प्रश्न नहीं है। विकास सच्चा होना चाहिए। परिणित सच्ची होनी चाहिए।

—विनोबा

योगियों का सहज-धर्म–

मानवता-वाद

—श्री वेदप्रकाश अग्रवाल

आज सम्पूर्ण विश्व नाना प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त, शोक–संतप्त एवं पीड़ित है। मनुष्य ने वैज्ञानिक प्रगति कर पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि पर अधिकार तो कर लिया तथा अपने हितार्थ विविध रूप से वह इनका उपयोग भी कर रहा है, किन्तु सृष्टि का सबसे बुद्धिमान, शक्तिशाली एवं उद्यमशील प्राणी होने के बावजूद वह निरन्तर अशान्ति, चिन्ता, पीड़ा और पतन के गर्त में गिरता जा रहा है। मनुष्य–मनुष्य के बीच की खाई बढ़ती जा रही है, जिसका परिणाम विविध प्रकार के संघर्षों के रूप में सामने आ रहा है। सामाजिक विषमता इतनी अधिक है कि एक ओर अपार सम्पत्ति है तो दूसरी ओर सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य ही दाने–दाने को मुहताज, भूखा, नंगा, बीमार, असहाय, दीन, हीन और उपेक्षित है। ऐसी घोर विषमता देखकर कवि–हृदय कराह उठता है–

एक ओर समृद्धि थिरकती,
पास सिसकती है कंगाली।
एक देह पर एक न चिथड़ा,
एक स्वर्ग के गहनों वाली।।
उधर खड़े हैं रम्य महल,
वे आसमान को छूने वाले।
और बगल में बनी झोंपड़ी,
जिनके छप्पर चूने वाले।।
श्वानों को मिलता दूध वस्त्र,
भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर,
जाड़े की रात बिताते हैं।।
युवती के लज्जा वसन बेच,
जब ब्याज चुकाये जाते हैं।

मालिक तब तेल फुलेलों पर,

पानी–सा द्रव्य बहाते हैं।।

निर्धन, असहाय व्यक्ति ही दुःखी हो, सो बात नहीं। आज का अधिक–से–अधिक धनवान्, शिक्षित और सभ्य कहलाने वाला वर्ग भी नाना प्रकार की चिन्ताओं, समस्याओं से जकड़ा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति अपना ही रोना रोता हुआ मिलेगा, चाहे कितना ही धनी–मानी हो। शायद ही कोई ऐसा घर होगा जहाँ पिता–पुत्र, भाई–भाई, माँ–बेटी, सास–बहू, ननद–भौजाई, आदि के बीच टकराव न हो। प्रत्येक जाति, समाज, वर्ग, समुदाय के मध्य संघर्ष है, वह निरन्तर बढ़ रहा है। यही नहीं, वैज्ञानिक प्रगति की दौड़ में राष्ट्रों में घातक–से–घातक एवं अधिक–से–अधिक मात्रा में अस्त्र–शस्त्र निर्माण की होड़ लगी है। विश्व–युद्ध की सम्भावनाएँ बढ़ती ही जा रही हैं।

तब क्या इस धरती पर मनुष्य कभी सुख का अनुभव कर सकेगा? शान्ति की साँस ले सकेगा? क्या मनुष्य–मनुष्य के मध्य निरन्तर बढ़ती जा रही खाई समाप्त हो सकेगी? क्या आदमी–आदमी के रक्त का प्यासा न होकर परस्पर मित्रता एवं बन्धुत्व स्थापित कर सकेगा? क्या घोर निर्धनता और अज्ञानान्धकार से पीड़ित मानवता का कभी उद्धार हो सकेगा?

आइये, उक्त प्रश्नों के उत्तर के लिए जरा परमात्मा–प्रदत्त दिव्य ज्ञान पर दृष्टिपात करें। परमेश्वर जो सर्व–शक्तिमान्, सर्व–व्यापक, सर्वज्ञाता है, जिसने सुन्दर सृष्टि की अद्‌भुत रचना की, उसके द्वारा प्रदत्त प्राचीनतम् ज्ञान 'वेद' के रूप में सम्पूर्ण विश्व को प्रारम्भ से ही आलोकित करता रहा है। सार्वभौम, सर्वोपयोगी एवं सर्वोत्कृष्ट महान् ज्ञान तथा शिक्षाओं से परिपूर्ण होने के कारण ही 'वेद' आज तक इस संघर्षपूर्ण एवं घोर स्वार्थ के युग में विद्यमान है।

वेदों में सम्पूर्ण विश्व के लिए कल्याण की कामना की गई है–

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विस्म–

स्तस्य त्वं प्राणेनाप्यायस्व।

आ वयं प्यासिपी महि गोभिरश्वैः

प्रजया पशुभिर्गजैर्धनेन।।

–अथर्ववेद 7/81–5

'हे परमात्मन्! जो हमसे बैर–विरोध रखता है और जिससे हम शत्रुता रखते हैं तू उसे भी दीर्घायु प्रदान कर। वह भी फले–फूले हम भी समृद्धिशाली बनें। हम सब गाय, बैल,

घोड़ों, पुत्र, पौत्र, पशु और धन–धान्य से भरपूर हों। सबका कल्याण हो और हमारा भी कल्याण हो।'

विश्व–कल्याण की जितनी उच्च एवं उदात्त भावना उपर्युक्त तथा अन्य वेद–मन्त्रों में है, उतनी संसार के साहित्य में अन्यत्र न मिलेगी।

विश्व प्रेम–मनुष्य–मनुष्य के बीच शत्रुता समाप्त होने एवं मित्रता, प्रेम स्थापित होने सम्बन्धी अमूल्य शिक्षायें वेद–मन्त्रों में भरी पड़ी हैं जो सम्पूर्ण विश्व की निधि है।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चर्कुषं देवा देवा जीवयथा पुनः।।

–अथर्ववेद 4/13–1

'हे दिव्य गुणयुक्त विद्वान् पुरुषो! आप नीचे गिरे हुये लोगों को ऊपर उठाओ। हे विद्वानो! पतित व्यक्तियों को बार–बार उठाओ। हे देवो! अपराध और पाप करने वालों को भी ऊपर उठाओ (उद्धार करो)। हे उदार पुरुषो! जो पापाचरणरत हैं उन्हें बार–बार उद्‌बुद्ध करो, उनकी आत्म–ज्योति को जाग्रत करो।'

''मा अभिद्रुहः।'' *–अथर्ववेद 9/5–4*

'हे मानव! संसार के किसी भी प्राणी से द्रोह, ईर्ष्या और वैर मत करो।'

वेद का उपदेश है कि किसी जाति–विशेष या सम्प्रदाय–विशेष के लोगों से ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र से प्रेम करो। वेद की विश्वप्रेम की भावना की पराकाष्ठा देखिये–

अद्या मुरीय यदि यातुधानो,
अस्मि यदिवायुस्ततप पुरुषस्य।

–अथर्ववेद 8/4–15

'यदि मैं प्रजा को पीड़ा देने वाला होऊँ अथवा किसी मनुष्य के जीवन को संतप्त करूँ तो आज ही अभी इसी समय मर जाऊँ।

विश्वशान्ति–वेद का अनुयायी सर्वत्र शान्ति चाहता है। प्रभु से शान्ति की प्रार्थना करते हुये वह कहता है–

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्मँ शान्तिः सर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेध।

–यजु. 36/17

'द्युलोक–सूर्य अथवा महान् आकाश हमारे लिए शान्तिदायक हो। पृथ्वी और अन्तरिक्ष, जल तथा औषधियाँ एवं वनस्पतियाँ भी हमारे लिये शान्तिदायक हों। समस्त विद्वान् गण और

तेजोमय पदार्थ, तेजोमय परमेश्वर और वेद–ज्ञान–ये सभी हमारे ऊपर शान्ति की वृष्टि करने वाले हों। संसार की सभी वस्तुएँ शान्तिदायक हों। समस्त संसार को शान्त करने वाली परमशान्ति मुझे प्राप्त हो।'

परमात्मा से प्रार्थना के साथ–साथ शासक से भी शान्ति की प्रार्थना की गयी है–

शं नः पयस्य शं गये शं जनाय शमवर्ते। शं राजन्नोषधीभ्यः।

–ऋग्वेद 9/11/3

'हे राजन्! तू हमारे गौ आदि पशुओं के लिये शान्तिदायक हो। मनुष्यों के लिए शान्ति सुधा की वर्षा करने वाला हो। हमारे घोड़ों के लिए भी शान्तिकारक हो। हमारी औषधि और वनस्पति आदि के लिये भी शान्तिदायक हो।'

चरित्र निर्माण–किसी कवि ने कहा है–

यह चाल चल कि उम्र खुशी से कटे तेरी।
वह काम कर कि याद तुझे सब किया करें।।

आइये देखें चरित्र–निर्माण के बारे में वेद का कथन है! कुछ उदाहरण प्रेष्टव्य हैं–

मामुत्तरं कृधि *(अथर्ववेद 2/27/7)*

'हे प्रभो! मुझे श्रेष्ठ बना दो।'

परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाध–
स्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोद–
स्थायमृतां अनु।।

–यजु. 4/28

'हे परमेश्वर! मुझे सब प्रकार के दुष्टाचार से हटाकर उत्तम चरित्र में स्थापित कीजिये। सदाचारी बनकर मैं जीवन्मुक्त अथवा दीर्घायु पुरुषों का अनुगामी होकर सुदीर्घायु और उत्तम जीवन से युक्त होकर उत्तम मार्ग में स्थिर रहूँ।

वेद हमें ऐसा चरित्र बनाने का उपदेश देता है कि मित्रों की तो बात ही क्या शत्रु भी हमारी प्रशंसा करें–

उत नः सुभगां अरिर्वोचे युर्दस्म कृष्ट यः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि।।

–ऋ. 1/4/6

'हे दुर्गुणों और पापों को क्षीण करने वाले परमात्मन्! आपकी छत्रछाया में रहने वाले हम लोगों को आप ऐसा श्रेष्ठ और महान् बना दें कि हमारे शत्रु भी हमें श्रेष्ठ और

सौभाग्यशाली कहें।'

आत्मनिरीक्षण—प्रत्येक व्यक्ति जब तक आत्म–निरीक्षण न करेगा—उसे सही मार्ग पर चलने का ज्ञान न हो सकेगा। एकान्त में बैठकर अवश्य विचारना चाहिए, आज हमसे क्या त्रुटियाँ हुई हमने किसी के लिये अशुभ कामना तो नहीं की। जहाँ कोई दोष हमें अपने अन्दर दिखायी दे वहाँ अवश्य सुधार का प्रयास करें एवं अपने हृदय, मन, इन्द्रियों को पवित्र तथा स्वच्छ बनायें।

किसी कवि ने कहा है—

कशा कशीये जिन्दगी से बचकर,
कभी तो खिलवत नशीं हुआ कर।
इसमें वो है कुदरत की बूँद,
पानी को गोहर आबदार कर दे।।

आत्मनिरीक्षण करके शराबी और असत्यवादी टालस्टाय, महात्मा आलस्टाय बन गये।

उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत्, कृत्या मन्मनीषा मुदिन्द्रियम्।
—अथर्ववेद 5/9/8

'अपने जीवन को उत्तम और उत्कृष्ट बनाओ। बल को भी श्रेष्ठ बनाओ। कार्य भी उत्तम करो। कर्त्तव्य भी उत्कृष्ट बनाओ बुद्धि को तीक्ष्ण करो।' उपर्युक्त पंक्तियों में आत्मनिरीक्षण की कैसी उदात्त प्रेरणा है।

वेद में अमूल्य उपदेश भरे पड़े हैं। पुरुषार्थ पूर्वक वेदाध्ययन की आवश्यकता है। वेद की तुलना में संसार का कोई ग्रन्थ नहीं ठहर सकता। देश–विदेश के अनेक विद्वानों ने वेदों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है—'जो कुछ वेदों में मिलता है वह अन्यत्र नहीं मिलता।' प्रो. हीरेन ने कहा है—'जिस प्रकार वेद देदीप्यमान हैं, संसार का अन्य कोई ग्रन्थ वैसा नहीं चमकता, ज्ञान–प्रकाश नहीं देता। वेद मानव मात्र को अपना दिव्य प्रकाश प्रदान कर उसे आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करते हैं। तो आइये, हम उसी के उपदिष्ट मार्ग पर चलें। इसी से संसार में शान्ति होगी और विश्व का कल्याण होगा।

2020–नववर्ष के अभिनन्दन में

(त्रिभाषा–रचित (संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी)

पद्यात्मिका–स्वरचनायें

द्वारका प्रसाद शर्मा,

306–ए (अभिषेक, प्रिया–निकुंज) एलडीको–उदयन–2,

रायबरेली, लखनऊ–226025

(संस्कृत भाषायाम्)

कालोऽयं समुपाहरत्यनुदिनमस्मत्प्रियं वाऽप्रियम्,
संयोगं कुरुते तथा विदधते क्लेशान् वियोगात्मकान्।
जानीते न ततो वराक मनुजो कालस्य रचनामिमाम्,
एवं वर्षमतीतमप्यपगतमहो कालप्रभावे जगत्।।1।।

कालातीतो न भवितुमर्हो शंकरान्नापरोऽन्यः,
तेषामेवाश्रितानां भवतु यदि भवेदामास्पदं नो।
संसारे येऽनुरक्ताः कथमिह न ते दुःखदग्धा भवेयुः,
संलब्धेषु कलेवरेषु द्वन्द्वविषये को यो न शेषायितः।।2।।

वर्षे नवीने समुपागतेऽस्मिन्,
नूनं भवन्तमप्यभिनन्दयेऽहम्।
तथा प्रार्थयेऽहं भवतां कृते च,
नीरुक्–वपुर्मानमयञ्च जीवनम्।।3।।

(हिन्दी)

यही काल जो प्रिय वा अप्रिय दिन–प्रतिदिन ले आता है,
संयोगों को यही कराता और प्रियों से बिछुड़ाता है।
कालजयी की संरचना को मनुज बिचारा नहीं जानता,
कालबद्ध यह सकल विश्व है, ऐसे यह गत वर्ष व्यतीता।।1।।
कालजयी परमेश्वर के बिन, कोई अन्य न हो पाया,

उनका आश्रय परमाश्रय है, जिनसे सब कुछ सबने पाया।
संसारी जन तज उनको ही, जीवन दुश्चिन्तामय जीते हैं,
धरा नुज तन कैसे सोचें, द्वन्द्व क्लेश से हम रीते हैं।। 2।।

नये वर्ष के इस शुभारम्भ में मैं,
शब्दाभिनन्दन बस कर रहा हूँ।
नीरोग तन युत, धन–मान दोनों,
जीवन रहे प्रार्थना कर रहा हूँ।। 3।।

May the New Year be a Blissful one

(This is in English Verse of Sanskrit Verses)

Its the Time that conveys the news, be those pleasant or the unpleasant ones,
Its that very Time causing unions & the disunions from our dearest ones.
The poor human being does never perceive the statute of the Omnipotent Time,
Tried with the Time is the entire Universe, hence the year last has gone past again once.

None else is the Victor of Time other than the Lord of the Universe,
This resort is only the greatest resort which bestows upon ever to every one.
A temporal life shrouded with worries lead the worldly people bereft of him,
Being in human form how can one think to carry on one's own life without worry or shun.

On this auspicious beginning of the New Year
I pray my heartfelt homage to you.
May God also shower His Blessings
Of Health with wealth, name and fame unto you.

एक अध्ययन–

आयुर्वेदीय पंच कर्म : यौगिक षट् कर्म

ब्र. श्री दाशलाल

आयुर्वेद का उद्देश्य है–**''व्याध्युप सृष्टानां व्याधि परिमोक्षः स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणं च।''** अर्थात् रोगी व्यक्ति को रोगमुक्त करना तथा स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना। मानव शरीर में यद्यपि 107 मर्म–स्थल माने गये हैं, परन्तु इनमें सिर, पेट (मध्य भाग) तथा बस्ति–प्रदेश ये तीन प्रधान मर्म–स्थल माने जाते हैं। रोग मुख्यतः इन्हीं स्थानों को दूषित करके रोगी को कष्ट देते हैं। इन स्थलों के दोषों का शमन करने के लिए तथा स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये आयुर्वेद में पंचकर्म की व्यवस्था की गई है। ये पंचकर्म **'इत्यातुर स्वस्थसुखः प्रयोगो बलायुषोर्वृद्धिकृदामयघ्नः।** आतुर को स्वास्थ्य प्रदान करके बल, आयु की वृद्धि तथा रोगों के शमन के लिए ही आविष्कृत किये गये हैं। पंचकर्म में वमन, विरेचन, नस्य, निरुह (आस्थापन) बस्ति तथा अनुवासन बस्ति ये पाँच कर्म हैं। चरक–संहिता के कल्प स्थान, सिद्धि स्थान व अन्य आयुर्वेद ग्रन्थों में इनका विशद विवेचन मिलता है। पंचकर्म से पूर्व दो कर्म और हैं जिन्हें स्नेहन (मालिश) व स्वेदन (पसीना देना) कहते हैं।

प्राचीनकाल में योगी लोग नितांत जंगलों में रहा करते थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा व अन्तर्ज्ञान से षट कर्मों की खोज की, जिनके करने से मनुष्य रोगग्रस्त नहीं होता। यदि हो भी जाये तो इन कर्मों के करने से तुरन्त रोग–मुक्ति मिल जाती है। जब उन्हें लम्बी अवधि के लिए समाधि में बैठना होता था तो इन षटकर्मों के द्वारा शरीर का शोधन करके मलों की शुद्धि करके समाधि में स्थित होते थे, क्योंकि मल यदि शरीर में रह जाये तो वह सड़कर शरीर को दूषित करेगा। षटकर्म में धौति, नेति, बस्ति, नौली, त्राटक तथा कपालभाति ये छः कर्म यौगिक षटकर्म प्रसंग से इन पर विचार किया जायेगा। हम प्रथम आयुर्वेद के पंचकर्म पर दृष्टिपात करेंगे।

वमन–

''तत्र दोष हरणूर्ध्व भागं वमन संज्ञकम्।'' शरीर के ऊर्ध्व (मुखादि) भाग से दोषहरण की क्रिया को वमन कहते हैं। वमन कराने से पूर्व स्नेहन (मालिश) व स्वेदन (पसीना देना) कराना चाहिए। स्नेहन से शरीर मृदु बनता है तथा वायु को नष्ट करता है। शरीर के मलों की रुकावट को नष्ट करता है। स्वेदन देने से शरीर के जो कफादि दोष या मल विभिन्न स्रोतों में चिपके हुए या शुष्क होते हैं, वे गीले होकर द्रवरूप हो जाते हैं। वमन कराने से पूर्व स्निग्ध यूष, खिचड़ी आदि जो कफ को बढ़ाने वाले हों, उनके द्वारा मल को उत्क्लेशित या उभाड़ना चाहिए। कफ प्रधान व्यक्ति को आसानी से वमन होता है। कफ के अलोप होने पर वमन द्रव्य अधोमार्ग से निकल जाता है, इसलिए कफ प्रधान व्यक्ति को विरेचन की अपेक्षा वमन ही कराना चाहिए। जिस दिन वमन कराना हो उस दिन मालिश कराना चाहिए। घी, तेल, आदि चिकने पदार्थों का सेवन एक–दो दिन पूर्व कराया जा सकता है। वमन के बाद एक–दो दिन पेया (लस्सी), एक–दो दिन तक विलेपी (हलुआदि की तरह का) तथा दो एक दिन यूष, खिचड़ी खिलानी चाहिए। वमन के बाद खिचड़ी आदि एक दिन बिना नमक व चिकनाई की देनी चाहिए। वमन में चार वेग अधम, छः वेग, मध्यम तथा आठ वेग उत्तम माना जाता है। वमन के अन्त में जब पित्त निकलने लगे तो वमन ठीक हो गया ऐसा समझना चाहिए। वमन से पहले आमाशय का कफ, उसके बाद पित्त, फिर वायु का निःसरण होता है। इसके फलस्वरूप हृदय पार्श्व, मस्तक, इन्द्रियों के मार्ग का शोधन तथा शरीर में हल्कापन प्रतीत होता है। वमन अधिक हो जाने पर प्यास की अधिकता, मूर्च्छा, वात प्रकोप, निद्रा–नाश और बल की हानि होती है। उरः क्षत (हृदयप्रदेश में घाव) क्षीण, अति स्थूल अति कृश, बालक–वृद्ध भूख–प्यास से पीड़ित, उप, वासी, गर्भिणी, जिसे निरूह या अनुवासन बस्ति दिया गया हो तथा हृदय रोग, मूत्राघात, सिर दर्द, नेत्र पीड़ा आदि से युक्त रोगी को वमन नहीं कराना चाहिए। क्योंकि वमन के द्रव्यों से इन्हें हानि हो सकती है। परन्तु विष पान गर–विष (कृत्रिम विष) विरुद्ध भोजन या अजीर्ण भोजन किये हों, आम–दोष एकत्र हों तो सबको वमन कराया जाना चाहिए। कुष्ठ, श्वास प्रमेह, मन्दाग्नि, विष सर्प के काटने पर, मुख से कफ निकलने पर, अपस्मार उन्माद, अतिसार, शोथ, पाण्डु–रोग, मुख–पाक आदि रोगों में वमन अवश्य कराना चाहिए, कफ रोगों में विशेष रूप से लाभप्रद है। जठराग्नि की वृद्धि हो जाती है। वमन में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों में मदन फल, जीमूतक (देवदाली) इक्ष्वाकु (तितली की तुम्बी), वत्सक (कुटज, शक्र या बीज को इन्द्र जौ कहते हैं), कृत वेधन (कड़वी

तोरई) आदि मुख्य वामक द्रव्य हैं। वामक द्रव्य अग्नि, वायु, गुण प्रधान होने के कारण हल्के होते हैं। इसलिये ऊपर के दोषों को निकालते हैं। यौगिक षट–कर्मों में वमन के रूप में कुञ्जल या गजकरणी कराई जाती है। इसके अतिरिक्त वस्त्र धौति, वात–सार धौति आदि कराये जाते हैं। इन क्रियाओं से पित्त व कफ का शमन किया जाता है। पंच कर्मों में वमन को मुख्य माना जाता है। स्वस्थ व्यक्ति को बसन्त में वमन, वर्षा–ऋतु में वस्ति तथा शरद–ऋतु में विरेचन कराना चाहिए। रोगावस्था में रोग के अनुसार करना चाहिए।

विरेचन–

''दोष हरणाधो भागं विरेचन संज्ञकम्।'' अधोभाव (गुदा) से मल व दोष–हरण क्रिया को विरेचन कहते हैं। विरेचन से पहले प्रायः वमन कराया जाता है। विरेचक द्रव्यों में श्यामा (काली निशोथ), त्रिवृत (सफेद निशोथ), चतुरंगुल (अमलतास), लोध्र (लोध), सेंहुड़ा का दूध, सप्तला (शिकाकाई), दन्ती (जमालगोटा बीज) और द्रवन्ती (बड़ी दन्ती), ये मुख्य द्रव्य हैं। जिस व्यक्ति को विरेचन कराना हो उसे स्नेहन–स्वेदन कराकर केवल पेया ही खिलावें, दूसरे दिन प्रातःकाल निशोथादि का सेवन करावें। विरेचन से तीन दिन पूर्व भात, खिचड़ी आदि खिलाने का भी विधान है। निशोथ की जड़ को 10 ग्राम पीसकर 10 ग्राम गौमूत्र, भेड़ का मूत्र, बकरी का मूत्र, भैंस का मूत्र, त्रिफला का क्वाथ इनमें से किसी एक द्रव्य में घोलकर रोगी को पिलाना चाहिए। इन निशोथ आदि द्रव्यों को किस–किस द्रव्य के साथ मिलाकर कैसे पिलाना चाहिए। इन सबका वर्णन कल्प–स्थान चरक–संहिता में विस्तार से दिया गया है। उपरोक्त विरेचन द्रव्यों के विभिन्न योगों का प्रयोग किस विधि से रोगी को कराना चाहिए, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन चरक–संहिता में है। अलग–अलग ऋतुओं में अलग–अलग योगों का प्रयोग होता है। विरेचक द्रव्यों में अमलतास ज्वर, हृदय रोग, वातरक्त रोगी को अधिक पथ्य हैं। मृदु–मधुर व शीतल है। बालक, वृद्ध, उरक्षत रोगी और कोमल व्यक्तियों के लिए अमलतास का योग बहुत उत्तम है। मृदु होने से कोई उपद्रव नहीं होता। वमनकारक या विरेचक द्रव्यों के चूर्ण को द्रव्यों के स्वरस से भावना देने से उसके बल की वृद्धि होती है, अधिक लाभकारी व प्रभावकारी होता है। यदि उदर में दोष विबन्ध हो, रुक–रुककर मल निकलता हो या देर से निकलता हो तो गर्म जल पिलाना चाहिए। रूखे शरीर वाले व्यक्तियों तथा उपवासी व्यक्तियों में औषधि का पाचन हो जाने पर औषधि ऊर्ध्व मार्ग में चली जाये तो अन्य द्रव्यों को स्नेह तथा नमक के साथ देना चाहिए। रूक्ष, वात–प्रधान, क्रूर कोष्ठ (कठोर मेदा) व्यायाम के अभ्यासी, दीप्ताग्नि वाले

व्यक्तियों को विरेचक द्रव्य बिना विरेचन किये ही पच जाती है, उन्हें पहले बस्ति देनी चाहिए। विरेचक द्रव्यों का प्रयोग, मात्रा का विचार, रोगी के कोष्ठ, बलाबल व अवस्था आदि का विचार करके ही करें। विरेचन में हीन शुद्धि में 10, मध्य में 20 और उत्तम में 30 वेग होने चाहिए। जब तक कफ न निकले और शुद्धि के लक्षण भी न दीखते हों, तब तक विरेचन का क्रम चलाना चाहिए। यह वमन या विरेचन की संख्या एक दिन में ही पूरी नहीं की जाती, 2–3 दिन में पूरी की जा सकती है। दोष को देखते हुए उत्तम, मध्यम शुद्धि कराई जाती है। विरेचन ठीक प्रकार से हो जाने पर स्रोतों की शुद्धि, इन्द्रियों की स्वच्छता, शरीर में हल्कापन, उत्साह, जठराग्नि की दीप्ति, मन की प्रसन्नता होती है। क्रम से मल, पित्त, कफ और वायु का प्रकोप हो जाता है। अग्नि–मान्द्य, शरीर में भारीपन, प्रतिश्याय (जुकाम), तन्द्रा, वमन, भोजन में अरुचि आदि दोष हो जाते हैं। विरेचन अधिक हो जाने पर वायु कुपित हो जाती है, जिससे शरीर में शून्यता, कम्प, निद्रा–नाश, बल क्षय, आँखों के सामने अंधेरा छाना, उन्माद और हिक्का आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यदि किसी को निरूह बस्ति दिया गया हो तो उसे कम से कम 7 दिन तक विरेचन नहीं कराना चाहिए। वमन की तरह विरेचन के बाद रोगी को एक–दो दिन बिना चिकनाई व नमक की खिचड़ी आदि। फिर एक–दो दिन बाद चिकनाई व नमकयुक्त खिचड़ी खिलानी चाहिए। सुकुमार, क्षत–मुद्रा (गुदा गढ़ी हुई) मुक्त–नाल (मल स्वयं बाहर निकलता हो) लांछन कराने के बाद दुर्बल इन्द्रियों वाला, मन्दाग्नि से पीड़ित, अजीर्ण से पीड़ित, नूतन ज्वर वाला, आघात से पीड़ित, अति स्निग्ध, अति रूक्ष, अति दारुण कोष्ठ वाले, अति क्षीण, उरःक्षत, बालक–वृद्ध उपवास वाला, अति सूक्ष्म एवं गर्भिणी आदि को भी विरेचन निषिद्ध है। क्योंकि इन व्यक्तियों पर विरेचक औषधियाँ हानि–प्रद होती हैं। कुष्ठ ज्वर, प्रमेह, ऊर्ध्व रक्तपित्त, भगन्दर, अर्श, प्लीहा रोग, अर्बुद (कैंसर), मूत्राघात, कृमिकोष्ठ (पेट में कीड़े), पाण्डु रोग, शिरोशूल, नेत्रजलन, हृदय रोग, श्वास, कास कामला, अपस्मार, उन्माद, योनि–दोष, शुक्र–दोष, शोथ व उदर रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को अवश्य विरेचन कराना चाहिए। पित्त–जन्य रोगों में विरेचन विशेष रूप से देना चाहिए। पित्त के निकल जाने पर पित्त रोग स्वयं शान्त हो जाते हैं, शरद ऋतु में विरेचन देना चाहिए। विरेचन के स्थान में यौगिक षटकर्म में शंख प्रक्षालन या वारिसार कराया जाता है, इसमें किसी द्रव्य का प्रयोग नहीं किया जाता है। केवल हल्का गर्म पानी नमक डालकर काम में लाते हैं। इसके बाद चार–पाँच प्रकार के आसन करने होते हैं। शंख प्रक्षालन में भी स्नेहन आदि कराया जाये तो उत्तम है। आहार में एक दिन पहले खिचड़ी आदि का प्रयोग करते हैं। शंख–प्रक्षालन के बाद घृतयुक्त खिचड़ी खानी चाहिए। आयुर्वेद में जिन

रोगियों को विरेचन निषिद्ध, उन्हें शंख–प्रक्षालन करा सकते है, क्योंकि विरेचक द्रव्यों से उन्हें हानि की सम्भावना होती है, परन्तु शंख–प्रक्षालन में यह बात नहीं है।

शिरो विरेचन (नस्य)–

अनुवासन व निरूह वस्तियों से जिन व्यक्तियों का शरीर शुद्ध हो गया है उनके शिरः प्रदेश का स्वेदन कराकर हाथ के तलवे को गर्म कर शिरः प्रदेश का स्वेदन करना चाहिए। इसके बाद वात–पित्त–कफ दोषों की कुपित मात्रा को देख अवर, मध्यम व उत्तम क्रमशः 1, 2, 3 बार शिरो विरेचन देना चाहिए। सभी प्रकार के शिरो–रोग में नस्य का प्रयोग करना चाहिए। सिर का द्वार नासिका है, अतः नासिका द्वारा प्रयुक्त औषधि नासिका मार्ग से शिरः प्रदेश में पहुँचकर समस्त शिरो–रोगों को दूर कर देती है। नस्य के पाँच भेद माने गये हैं–नावन, अवपीड, ध्मापन, धूप व प्रतिमरी–नासिका द्वारा जो औषध या औषध से सिद्ध स्नेह (घृतादि) का प्रयोग किया जाता है उसे नावन कहते हैं। नासिका में औषधि के सतक को कपड़े में भिगोकर निचोड़ दिया जाता है। उसे अवपीड़ कहते हैं। द्रव्यों के सूक्ष्म चूर्ण को एक नली में रखकर फूँक मार कर द्रव्य को सिर तक पहुँचाया जाये उसे ध्मापन कहा जाता है। द्रव्यों के धूम्र (धुआं) को नासिका द्वारा दिया जाता है, इससे दोषों की शान्ति होती है। स्नेहन द्वारा जो रस दिया जाता है उसे प्रतिमरी कहते हैं। सिर में जकड़ाहट, शून्यता, भारीपन आदि उपद्रवों को जमा करने वाले जो कफ–जन्य विकार होते हैं, उनमें शिरो विरेचन (नस्य) का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

किन–किन द्रव्यों का प्रयोग किन–किन दोषों में करना चाहिए, इसका सुविस्तृत विवरण चरकसंहिता में दिया गया है। स्नेह नस्य के बाद फिर सिर का स्वेदन करे, बार–बार कफ के साथ स्नेह को निकालने का प्रयत्न करें। स्नेहन में शीतल गुण के कारण कफ पुनः सिर में जम जाता है। यह कफ कर्ण, गला तथा नेत्र के अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। अतः नस्य के साथ धूम्र का प्रयोग किया जाता है, जिससे गर्म होकर कफ ढीला होकर बाहर निकल आता है। द्रव्यों के स्वरस, चूर्ण व कल्क में कफ जमता नहीं है अतः धूम्र की आवश्यकता नहीं होती। नस्य सामान्यतः वर्षा ऋतु, शरद व बसन्त में देना चाहिए। रोग की दशा में नस्य कभी भी दिया जा सकता है। यौगिक षट–कर्म में सूत्र–नेति, जल–नेति, कफादि दोषों का हरण करने के लिए प्रयुक्त की जाती है। दुग्ध पान व स्नेह पान नाड़ियों को बल, स्फूर्ति व शोधन के लिए कराया जाता है। गौ घृत तथा बादाम रोगन श्रेष्ठ स्नेह

नस्य है। कपाल की शुद्धि के लिए कपाल भाति व्युत्क्रम तथा शीतकर्म कपाल भाति कराये जाते है।

वस्ति–पंचकर्मों में वस्ति अन्तिम व प्रधान कर्म माना जाता है। वस्ति की निरुक्ति आयुर्वेद में इस प्रकार दी है–

नाभि प्रदेश कटि पार्श्व कुक्षिं,

गत्वा शकृद्दोषचयं विलोढ्य।

सस्नेह्य कायं सपुरीष दोषः,

सम्यक् सुखेनेति च यः स वस्ति।।

अर्थात् नाभि प्रदेश, कटि, पार्श्व में जाकर मल व दोषों के संचय को मथकर तथा स्नेहन कर मल और दोषों के साथ जो सुखपूर्वक भली भाँति चली आती है उसे बस्ति कहते हैं। बस्ति को समस्त रोगों का इलाज माना जाता है–

तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति।

सर्वां चिकित्सामपि वस्ति मेके।।

कुछ लोग वस्ति को सारे रोगों की चिकित्सा मानते हैं, शल्य चिकित्सा रोगों की आधी चिकित्सा मानते हैं। वायु कुपित होकर कफ, पित्तादि दोषों को स्थान विशेष में पहुँचाकर अनेक रोगों को उत्पन्न करने में मुख्य कारण बनती है। अतः वायु को दूर करने के लिए वस्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। गुदा के द्वारा वस्ति (अनुवासन) से जो स्नेहन शरीर में प्रविष्ट कराया जाता है वह शिरा, धमनी के प्रारम्भिक मूल नाभि में पहुँचकर सारे स्रोतों को तृप्त करता है, गुदा को शरीर का मूल माना जाता है पारासर ऋषि ने कहा है–

मूल गुदं शरीरस्य,

सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।

सर्व शरीरं पुष्णन्तिः,

मूर्धानं यावदाश्रिताः।।

गुदा शरीर का मूल है, इसमें सब शिरायें जो मूर्धापर्यन्त हैं प्रतिष्ठित हैं। इन सबका पोषण गुदा करती है।

जिन व्यक्तियों का शरीर जकड़ गया हो, पंगु हो गया हो, हड्डी टूट गई हो, शरीर में

वेदना होती हो, पसलियों में कुपित वायु गमन करती हो, उदर में आध्मान हो, मल में गाँठ हो, पेट में दर्द, भोजन में अरुचि तथा अन्य कोई भी उदर रोग हो, वात रोग से पीड़ित, विवाहित स्त्री गर्भ धारण नहीं करती हो तथा जो मनुष्य क्षीण हो, उन सबको बस्ति अवश्य कराना चाहिए। सब चिकित्सा विधियों में वस्ति सर्वोत्तम मानी गई है क्योंकि इसमें किसी प्रकार के उपद्रव (Side-effect) का भय नहीं होता है। विरेचन से भी यद्यपि दोषों का हरण होता है, परन्तु विरेचक द्रव्यों के कटु, तीक्ष्ण व उष्ण होने से सेवन में दुःख होता है। डकार आती है, जी मचलाता है, हृदय को हानिकारक तथा उदर से पीड़ा होती है, वस्ति कर्म में यह सब कुछ नहीं होता है। बालक, वृद्ध को विरेचन नहीं देना चाहिए, क्योंकि ये दोनों दुर्बल होते हैं उन्हें वस्ति ही करानी चाहिए। वमन, विरेचन की तरह इसमें जठराग्नि मन्द नहीं होती है। वस्ति तीन प्रकार की मानी जाती है–निरूह, अनुवासन तथा उत्तरवस्ति।

निरूह वस्ति–

निरूह वस्ति में विभिन्न औषधियों का क्वाथ बनाकर उसे वस्ति यंत्र में डालकर वस्ति कराई जाती है। द्रव्यों में बला, गुड़ूची (गिलोय), आंवला, हरड बहेड़ा, रास्ना, बेल, सोनापाठा, अरणी बड़ी कण्टकारी, गोखरू, मदनफल आदि हैं। इन द्रव्यों को चौगुने जल में क्वाथ करे, चौथाई रह जाने पर गुड़, मधु, घृत, तेल, आदि को लेकर मथनी से मथकर वस्ति यंत्र में रखा जाता है। वस्ति यंत्र के लिये प्राचीन काल में मरे हुये वृद्ध बैल, हिरण, भैंस, सूअर, बकरे आदि की दृढ़, पतली व शिरा रहित वस्ति (मूत्राशय) को लेकर धूप में सुखाकर तेल–मर्दन कर तैयार करके कषाय रंग में रंग देते थे। इस प्रकार वैद्यों के पास छोटे–बड़े सभी प्रकार के योग की वस्ति रहती थी, जिसे रोगी के अवस्थानुसार प्रयोग करते थे। मूत्राशय की उपलब्धि न होने पर गाढ़ा–मोटा कपड़ा लेकर उसी का वस्ति–यंत्र बना लेते थे। वस्ति को लेकर एक नली से मिलाकर जोड़ देते थे। जिसे नेत्र कहा जाता था। यह नेत्र या नली सोना, चाँदी, रांगा, तांबा, अस्थि, लोहा, लकड़ी, बांस, दांत, भैंस, आदि के सींग तथा मणि इत्यादि का बनाया जाता था। जिस व्यक्ति को वस्ति करानी हो, उसी की छोटी उँगली के बराबर मोटी नली प्रयोग में लाई जाती थी। निरूह वस्ति से मल–मूल और वायु की अच्छी प्रकार से प्रवृत्ति होती है। भोजन से रुचि, अग्नि की वृद्धि, सारे शरीर में बल तथा रोग की शान्ति होती है। यदि ठीक प्रकार से न हो तो सिर–दर्द, हृदय–दर्द, गुदा मूल वस्ति व लिंग में सूजन, मूत्र की रुकावट व श्वांस वृद्धि हो जाती है। अतः उपयुक्त द्रव्यों का ही प्रयोग करना चाहिए। सर्वांगवात, उदर–रोग, मल–मूत्र व शुक्र का अवरोध होने

पर बल, मांस व शुक्र का क्षय होने पर प्लीहा रोग, गुल्म रोग, हृदय रोग, भगंदर, उन्माद (पागलपन) ज्वर शिरोशूल तथा सभी प्रकार के वात रोगों में वस्ति परम लाभकारी है। अजीर्ण रोग से पीड़ित, मन्दाग्नि, ग्रस्त, अति दुर्बल, भूख–प्यास से पीड़ित, जिन्हें वमन–विरेचन कराया गया हो, वमन रोग से पीड़ित, विसूचिका (Dysentry) मधुमेह व कुष्ठरोगी को निरूह वस्ति नहीं करानी चाहिए। जिन व्यक्तियों का जीवन मल–दोष पर ही टिका हुआ हो, विशेषकर राजयक्ष्मा, टी.बी. के रोगी को कोई–सी भी वस्ति नहीं करानी चाहिए।

अनुवासन वस्ति–

अनुवासन वस्ति में तेल का प्रयोग किया जाता है, परन्तु दोष को देखते हुए घृत, बसा, मज्जा आदि का प्रयोग भी बस्ति में किया जाता है। तेल वात दोष को दूर करने में सर्वश्रेष्ठ है, इसे गर्म करके प्रयोग में लाना चाहिए। अनुवासन वस्ति से रक्तादि धातु वृद्धि तथा इन्द्रियाँ स्वच्छ हो जाती हैं। निद्रा ठीक आती है, शरीर में हल्कापन और बल में वृद्धि होती है। मल–मूत्र के वेग रुकते नहीं। तेल को शरीर में कम से कम नौ घण्टे तक रहना चाहिए। यदि स्नेह शीघ्र निकल आये तो पुनः अनुवासन करें। जिन व्यक्तियों को स्नेह बस्ति का निषेध किया गया है–उन्हें अनुवासन भी नहीं करना चाहिए। नव–ज्वर, पांडुरोग तथा कामला व प्रमेह से पीड़ित रोगियों में दोषों को उभार कर उदर रोगों को पैदा करती है। विशेष रूप से रूखे शरीर वाले, तीक्ष्ण जठराग्नि वाले तथा वात–रोग से पीड़ित रोगी को अनुवासन वस्ति करानी चाहिए। निःसंतान स्त्री–पुरुषों को विशेष लाभ करती है। अनुवासन में दक्षमूलादि, जीवंत्यादि, सैंधवादि तेल कफजन्य विकारों में लाभप्रद होता है। विरेचन देने के बाद सात दिन तक निरूह वस्ति नहीं देनी चाहिए। इसी प्रकार निरूह वस्ति के देने पर सात दिन तक विरेचन भी नहीं देना चाहिए। निरूह वस्ति के बाद ही अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। शिशिर, हेमन्त तथा बसन्त ऋतु में दिन में तथा शरद, ग्रीष्म तथा वर्षा में रात्रि को अनुवासन देनी चाहिए। श्रेष्ठ द्रव्यों के द्वारा भयंकर रोगों में कराई जाने वाली वस्ति को उत्तर वस्ति कहा जाता है, ये निरूह वस्ति की ही तरह कराई जाती है। यौगिक षटकर्म में भी वस्ति कर्म कराई जाती है, परन्तु इसमें केवल स्वच्छ जल के द्वारा ही वस्ति की जाती है। इसमें पेट के नलों को नली विधि से उठाकर अपान वायु की सहायता से गुदा मार्ग से जल चढ़ाकर की जाती है। निरूह तथा अनुवासन वस्ति जिन रोगियों के लिए निषिद्ध है, उन्हें जल–वस्ति कराई जा सकती है, क्योंकि आयुर्वेदीय वस्ति में द्रव्यों तथा तेलादि का प्रयोग किया जाता है, जो सभी रोगियों के लिए उपयुक्त नहीं होती। आजकल आधुनिक

चिकित्सा पद्धति में ऐनीमा यंत्र के द्वारा वस्तिकर्म कराई जाती है। इसमें साबुन का पानी तथा तेल आदि का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार आयुर्वेदीय पंच–कर्मों की रोगों के शमन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। साथ ही जो स्वस्थ है, उनके स्वास्थ्य की रक्षा भी इन कर्मों से हो जाती है।

ईश्वर–प्रणिधान से समाधि

ईश्वर–प्रणिधान यथानियम आचरित होने पर उसके द्वारा समाधिसिद्धि सुखपूर्वक होती है। अन्यान्य यमनियम दूसरे प्रकार से समाधि में सहायक होते हैं; पर ईश्वर–प्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक होता है, क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावना–स्वरूप है। वह भावना प्रगाढ़ होकर शरीर को निश्चल (आसनस्थ) और इन्द्रियों को विषयविरत (प्रत्याहृत) करती है और धारणा तथा ध्यान के रूप में परिपक्व होकर अन्त में समाधि में परिणत हो जाती है। 'ईश्वरार्थ सर्वभावार्पण' का अर्थ है–भावना द्वारा ईश्वर में अपने को निमग्न रखना।

अज्ञ लोग शंका करते है कि यदि ईश्वर–प्रणिधान ही समाधि सिद्धि का हेतु हो तो अन्य योगांग व्यर्थ हैं। यह शंका निःसार है। असंयत–अनियत होकर दौड़ने–फिरने से या विषयज्ञान–जनित विक्षेप–काल में समाधि नहीं होती। समाधि का अर्थ है ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था; ध्यान है धारणा की एकतानता। अतः समाधिसिद्धि कहने से ही समस्त योगांग कथित हो जाते हैं। किन्तु अन्य ध्येय ग्रहण न कर पहले से ही साधक यदि ईश्वर–प्रणिधान–परायण हो तो सहज रूप से समाधि सिद्ध हो जाती है। यही तात्पर्य है।

सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के उपाय

—डॉ. राजकुमारी त्रिखा

आज के भौतिकवादी युग में विश्व—मानव अत्यन्त दुःखी है। धनी, निर्धन, वृद्ध, युवक, बालक सभी दुःखी हैं। इन्सान ज्यों—ज्यों अपने दुःखों को दूर करने में सचेष्ट होता है, त्यों—त्यों निन्यानवे के फेर में पड़कर और भी दुःखी होता है।

वस्तुतः सुख व दुःख की भावना व्यक्ति—निष्ठ होती है। यदि कोई घटना किसी व्यक्ति को दुःख देती है तो वही घटना किसी अन्य व्यक्ति को आनन्दित करती है। जैसे जब किसी की जेब काटकर कोई जेबकतरा उसके धन को अपना बना लेता है तो वह व्यक्ति तो धन—हानि के कारण दुःखी होता है, परन्तु जेबकतरा धन पाकर प्रसन्न होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सुख—दुःख किसी घटना या व्यक्ति की भावना से सम्बन्धित होते हैं। अपने आप को कोई भी घटना सुखदायी या दुःखदायी नहीं होती।

प्रश्न उठता है कि फिर सुख व दुःख क्या है? मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जो मनुष्य के मन को प्रिय लगता है वह उसके लिए सुख है तथा जो मन के प्रतिकूल होता है वह उसके लिए दुःख है। जैसे ही मानव इस संसार में जन्म लेता है, वह तभी से नाना प्रकार के सुख—दुःख भोगता है। यही कारण है कि प्रत्येक जीव दुःखी रहता है। यद्यपि निर्धनता दुःख का बहुत बड़ा कारण होती है, फिर भी धनवानों के दुःख, मानसिक क्लेश, धन की सुरक्षा की चिन्ता, आदि को देखकर भला कौन धन को सुख का कारण मानेगा। इसी प्रकार निरोगी काया को भी सुख का प्रथम साधन कहा गया है, परन्तु सामान्यरूप से अधिक लम्बी आयु वाले व्यक्तियों व चिरजीवी महात्माओं को अपने ही सामने अपने पुत्र व पौत्रों के मरने का दुःख झेलना पड़ता है।

इस प्रकार इस संसार में कोई भी सुखी नहीं है। इसीलिए बौद्ध—दर्शन में कहा गया है कि—सर्व दुःखम्। मन के प्रतिकूल वस्तु तो दुःखद है ही, मानव मन के अनुकूल वस्तु भी दुःख रूप बन जाती है, जब लाख कोशिश करने पर भी वह नहीं मिलती। जैसे मन—भावन स्वादिष्ट व्यंजन अति सुखप्रद लगते हैं, परन्तु जब वे खाने को नहीं मिलते तो दुःखदायी बन जाते हैं। क्योंकि इस स्थिति से तो यही अच्छा होता है कि वे व्यंजन पहले भी न मिले होते तो कम से कम उनके न मिलने पर दुःख तो न होता।

इस तरह जो हमें सुख प्रतीत होता है वह भी तात्विक दृष्टि से दुःखरूप ही है। परन्तु इस लेख में हम सुख–दुःख का विवेचन लौकिक दृष्टि से ही करेंगे।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि सुख व दुःख का क्रम नदी के प्रवाह की भाँति चलता है। शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य पूर्व–जन्म के पाप–पुण्य के अनुसार ही दुःख–सुख पाता है। अपने पिछले किये कर्मों पर किसी का वश नहीं है, अतः उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा।

प्रश्न उठता है कि सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का अंशस्वरूप जीव क्या पिछले कर्मों के चक्रव्यूह में फँसकर अभिमन्यु की तरह नष्ट होने के लिए जन्मा है। यदि नहीं, तो 'दुःखों से कैसे बचा जा सकता है?'

यह सत्य है कि पूर्वकृत कर्मों का फल अवश्य मिलता है, परन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि से अपने वर्तमान दुःख का कारण पहचानकर उसे कम अवश्य कर सकता है। कभी–कभी तो उससे बच भी सकता है।

समस्त जागतिक दुःखों का मूल कारण है राग व द्वेष। यदि सांसारिक वस्तुओं के प्रति अपनी ममता, स्नेह, आसक्ति व तृष्णा त्याग दी जाये तो सांसारिक पदार्थ व घटनायें सुख व दुःख नहीं देतीं। ऐसी ही स्थिति वाले–कर्मयोगी के लिए श्रीमद्भागवद् गीता में जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है–'**सुख–दुःख समे कृत्वा लाभालाभो जयाजयी।**' मनुष्य सुख में सुखी व दुःख में दुःखी न होवे, सुख दुःख दोनों का त्याग करने वाला परम सुखी होता है। इस प्रकार पूर्व–जन्म के कर्मों के फलरूप में मिलने वाले दुःख से व्यक्ति बच सकता है।

परन्तु जितनी आसानी से यह शिक्षा दी जा सकती है, उतनी आसानी से इस मार्ग में सफलता नहीं मिलती। अतः एक ओर तो अनासक्त भाव से संसार में जीवन बिताने का अभ्यास करना चाहिए तथा दूसरी ओर दुःख नाश का उपाय भी करना चाहिए।

दुःख–नाश के लौकिक उपाय

सर्वप्रथम तो दुःख आने पर अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए। आत्मिक रूप से दुर्बल व्यक्ति दुःख आने पर घबरा उठता है, उसे उस समय कुछ नहीं सूझता। कहा गया है–

विधाता जाकूँ दारुण दुःख देई।
ताकी मति पहले हर लेही।।

मनुष्य बुद्धि प्रधान प्राणी है। उसे अपनी बुद्धि द्वारा विचार कर अपने दुःख का कारण जानकर उससे छूटने का उपाय करना चाहिए। मन को विषादग्रस्त नहीं होने देना चाहिए।

प्रायः मानसिक व शारीरिक दुःखों के चार कारण होते हैं। रोग, अप्रिय घटना की प्राप्ति, अधिक परिश्रम तथा प्रिय वस्तु का वियोग। ज्ञानी पुरुष को शारीरिक दुःख की निवृत्ति के

लिए औषधि का सेवन करना चाहिए तथा विवेकपूर्ण विचार करके मानसिक दुःखों को नष्ट करना चाहिए। कई व्यक्ति अपनी पत्नी से अपनी बातें गुप्त रखते हैं। इस तरह वे अकेले सुख–दुःख झेलते हैं, परन्तु यह गलत है। महाभारत में कहा गया है–समस्त दुःखों की शान्ति के लिए पति पत्नी मृत्यु–पर्यन्त एक ही परिवार के अंग बनकर रहते हैं। उनके सुख–दुःख भी एक–दूसरे को सुखी या दुःखी बनाते हैं। माता, पिता, भाई, बहिन, अथवा मित्र का अलग घर होने के कारण अलग स्वार्थ होता है। अतः स्वाभाविक है कि पति–पत्नी एक–दूसरे के सुख–दुःख को सहजता से अपनाते हैं। अतः अपने सुख–दुःख को सदा ही अपने जीवन–साथी से बाँटकर जी हल्का करना चाहिए। बीते हुए दुःखों का बार–बार चिन्तन भी नये दुःख के समान दुःख देता है। अतः बीते हुए दुःखी दिनों को भूल जाना चाहिए।

अपने लिए दुःख देने वाले तत्त्वों को त्याग देना चाहिए, चाहे वे अपने शरीर के अंग ही क्यों न हों। किसी भी व्यक्ति से न तो सुख की आशा करो, न ही विश्वास करो, क्योंकि आशा पूरी न होने पर विकट मानसिक क्लेश होता है। विश्वासघात भी इन्सान के व्यक्तित्व को झकझोर डालता है।

शर–शय्या पर पड़े भीष्म पितामह उपदेश देते हुए सुखी जीवन का फारमूला देते हैं–''सबमें समता का भाव, व्यर्थ परिश्रम का अभाव, सत्य भाषण, संसार से वैराग्य और कर्मासक्ति का अभाव, ये पाँचों जिस व्यक्ति में होते हैं वह सुखी होता है।''

यद्यपि इन उपायों से दुःख से बचने का सफल प्रयास किया जा सकता है, फिर भी होनी होकर रहती है। केवल भगवत्साधना में लगा इन्सान ही संसार में सुखी है–

नानक दुखिया सब संसारा।
सुखिया वही जो नाम अधारा।।

मद्भगवद् गीता में जगत्कर्णाधार श्रीकृष्ण कहते हैं–

त विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्

अर्थात् दुःख संयोग से वियोग कराने वाले यानी बचाने वाला उपाय योग है। हमारे ऋषि–मुनियों द्वारा निर्दिष्ट योग–मार्ग ही मानव मात्र के समस्त दुःखों का सदा–सदा के लिए खात्मा कर सकता है। अतः हम सभी परम शक्तिमान गुरुदेव से योग–मार्ग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा व कृपा प्राप्त करें।

जप विज्ञान

—अनिल दुबे—दतिया (म. प्र.)

हमारे आराध्य देव प्रभुजी गुरुजी को वंदन नमन। श्री सिद्धगुफा संवाई आश्रम जप, ध्यान की पद्धति का केन्द्र बिन्दु है। गुरुदेव भगवान ने अपने शिष्यों को जप ध्यान की शिक्षा प्रदान की है। जो अपने आप में सर्वोपरि है। भगवत् दर्शन, मोक्ष, मुक्ति, निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति के पूर्व अधिकांश योगी, संत, महात्मा, ऋषियों को भी आध्यात्मिक अभ्यास या साधनाओं से होकर गुजरना पड़ा है। इस मार्ग पर चाह रखने वालों के द्वारा भगवत प्राप्ति के लिए अपनाये जाने वाले साधनों में प्रार्थना, ध्यान, गुरुदेव के पवित्र नाम का जप, आरती पूजा इत्यादि कुछ प्रभावशाली साधन है।

भगवान के तत्काल दर्शन एवं साक्षात्कार करने के लिए जप एक सरलतम और सुरक्षित साधन है। जहाँ तक भगवत साक्षात्कार का प्रश्न है, यह साधन मनुष्य, धनी–निर्धन, शिक्षित–अशिक्षित ऊँच–नीच में कोई विभेद नहीं करता। कोई भी व्यक्ति जप कर सकता है तथा इस साधन के द्वारा जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है परन्तु उसके लिये आवश्यक है एकाग्रता निष्ठा, श्रद्धा और दृढ़ विश्वास इनके बिना जप निरर्थक और निष्फल होता है। गीता में भगवान ने बतलाया है कि श्रद्धा साधक की माँ की तरह रक्षा करती है।

जप क्या है—जप एकान्त में मौन रहकर अपने गुरुदेव या इष्टदेव के पवित्र नाम की सतत् पुनरावृत्ति करना है। जिस इष्टदेव या भगवान का नाम जपा जा रहा है वह एक ही तत्व है। अर्थात् नाम और नामी एक ही है।

जब हम अपने गुरु मंत्र का या इष्टदेव के नाम का बार–बार स्मरण या उच्चारण करते हैं तो उस नाम धारण करने वाले गुरुदेव, इष्टदेव के विशेष गुणों की शक्ति, महानता और स्वरुप का चित्र हमारे मन चक्षु के समक्ष उपस्थित हो जाता है। जप करते समय उसके अर्थ का भी मनन करना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि जप को इस विधि से करने में प्रारम्भ में कुछ कठिनाई होगी, परन्तु कुछ दिनों बाद निरन्तर अभ्यास से साधक को सफलता अवश्य ही मिलती है उसे अधीर नहीं होना चाहिए। अधीरता उसकी प्रगति में रोड़े खड़े कर देगी। मानव के अवचेतन मन में उसके गत संचित कर्मों के अच्छे, बुरे संस्कार बीज रूप में भरे पड़े हैं। जो आध्यात्मिक मार्ग में बाधक बनकर खड़े हो जाते हैं। यदि साधक इन विरोधी शक्तियों से जूझने की सोचता है तो स्वाभाविक है कि उसकी शक्ति का बड़ा भाग इस संघर्ष में उसे व्यय करना पड़ेगा।

अतः साधक को इनकी उपेक्षा करना चाहिए और अपनी पूरी शक्ति अपने गुरु मन्त्र एवं इष्टदेव के निरन्तर स्मरण में ही लगाना चाहिए। इस प्रकार यह पद्धति शीघ्र ही उसे मोक्ष तक

पहुँचा देगी।

जप से साधक का मन और शरीर पवित्र हो जाया करता है और उसकी निर्मलता उसे धीरे-धीरे अपने मन को नियंत्रण में रखने, शान्त रखने में सहायक होती है।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता (2/48) में समत्वं योग उच्यते कह कर व्याख्या की है-

इष्टदेव का जप ध्यान करने से मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित हो जाया करती हैं। भगवान श्री कृष्ण ने अपने भक्तों के सामने जप की प्रशंसा करते हुए उसको अपना स्वरूप बतलाया है। साधक को नाम जप के द्वारा समय आने पर भगवत दर्शन अवश्य होते हैं।

यदि गुरुदेव के पहले ही मन्त्र को जाग्रत कर लिया है, तो शिष्य के लिए आध्यात्मिक पथ पर तीव्र गति से आगे बढ़ना बहुत सुगम हो जाता है अन्यथा सफलता प्राप्ति के लिए काफी समय लग सकता है। यदि संस्कारी शिष्य को अपने गुरु से जाग्रत मन्त्र प्राप्त हो जाता है तो उसकी साधना का पचास प्रतिशत पहले ही पूरा हो गया होता है और साधना पर्याप्त सरल हो जाती है। इसलिए सर्वप्रथम साधक को अपने गुरुदेव के निर्देशानुसार सुप्त मन्त्र का जागरण करना चाहिए और उचित समय पर वह साधना के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है परन्तु बहुत बार देखा जाता है कि जप करते रहने पर भी कोई प्रगति नहीं हो पाती है इसका क्या कारण है उसने दिन रात नाम तो जपा परन्तु उसका मन निरन्तर नाम, कीर्ति, यश, प्रतिष्ठा, अधिकार, सम्पत्ति, मान, बड़ाई, आदि जगत के भोगों में रस लेता रहता है। इसी से यथार्थ प्रगति नहीं हो पाती है। विषयों में फँसे मन को उनसे छुड़ाना पड़ेगा और तीव्र जप के मार्ग पर आगे बढ़ना होगा। मशीन की तरह किये गये जप से एवं बिना इष्टदेव में मन लगायें साधक को सफलता नहीं मिल सकती है। पवित्र नाम को जपते समय भी साधक का मन बाजार, ऑफिस अन्य जगह भटकता रहता है। इस तरह शक्ति का अपव्यय होता है और साधक को असफलता ही हाथ लगती है।

मानस जप की ओर बढ़ना है। इस तरह करने पर वह आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति करता है और उसका आन्तरिक जप दिन रात स्वतः ही होने लगता है और अन्त में उस परम वस्तु को प्राप्त कर ही लेता है, जिसकी तलाश में वह युगों से भटक रहा था। अनेक सरलतम और निश्चित मार्गों में जप अपना विशेष स्थान रखता है। यह कोई मन गढ़ंत कल्पना नहीं है।

यह परम सत्य है कि सच्ची भावना और श्रद्धा से किये गये जप से साधक ईश्वर की प्राप्ति के साथ-साथ अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

इसलिये जप विज्ञान को भगवत दर्शन की प्राप्ति और आत्म उन्नति के रूप में स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त हुई।

साधक को चाहिए कि वह गुरुदेव के दिशा निर्देशों के अनुसार जप विज्ञान का अभ्यास करें। परम लक्ष्य की प्राप्ति का यही सरलतम मार्ग है तभी हम गुरुदेव के प्रिय शिष्य कहलाने लायक होंगे।

जय-गुरुदेव

दीपकों का सन्देश

अमा की घोर घनी अंधेरी निशा में तम का साम्राज्य चारो ओर फैला हुआ था ऐसे विकट साम्राज्य की जिसमें अपने और पराये की पहचान भी किसी को नही हो रही थी, छिन्न–भिन्न करने के लिए मिट्टी के कुछ दीपक अपना मुस्कराता और जगमगाता हुआ जीवन लेकर आगे आये और बोले अंधेरे में टकरा जाने वाले मनुष्यो–हम तुम्हें मार्ग दर्शन देने के लिए आये हैं।

" तमसो मा ज्योतिर्गमय" का महामंत्र हमारी ही जलती हुई ज्योति से लिखा गया है। हमारी भाषा को अगर तुम समझ सकते हो तो समझो–साधना का पथ हमारा पथ है। हम जलते हैं हँस–हँसकर जलते हैं इसलिए कि हमारी ज्योति के प्रकाश में तुम अपने गन्तव्य से भटक न जाओ। जीवन का सार हमने दूसरों के हित में हँस–हँसकर जल जाने में पाया है और शायद यही कारण है कि जलकर राख हो जाने के बाद भी हमें काजल की संज्ञा देकर असंख्य नरनारी अपनी–अपनी आँखों में धारण करते हैं। तुम भी अगर जन–जन की आँखों और हृदयों में छा जाना चाहते हो तो हमारी तरह ज्योति पुंज बनकर दूसरों के हित में जलना सीखो। कुर्बानी, त्याग, तपस्या, बलिदान और साधना यही साधक का धर्म होता है। हम साधक हैं तुम भी हमारी ही तरह साधक बनो–यही अमा की इस अंधियारी में हम तुम्हें अपना संदेश देने आये हैं।

–आचार्य यशोवर्धन

●●●

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/18-20

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उत्कृष्ट का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________

____

____

☐☐☐☐☐☐

धीरो हर्ष शोकौ जहाति

तं दुर्दर्श गूढ़ मनु प्रविष्टं,
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं,
मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति।।

अर्थात् जो योग माया के पर्दे में छिपा हुआ सर्वव्यापी, सब के हृदय रूप गुहा में स्थित संसार रूप गहन बन में रहने वाला सनातन है। ऐसे उस कठिनता से देखे जाने वाले परमात्मा देव को शुद्ध बुद्धि युक्त धीर साधक अध्यात्म योग की प्राप्ति के द्वारा समझकर हर्ष और शोक को त्याग देता है।

संस्थापक— श्रीयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रामलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–2 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566 सम्पादक आचार्य ब्र. (डॉ.) रामलाल शर्मा